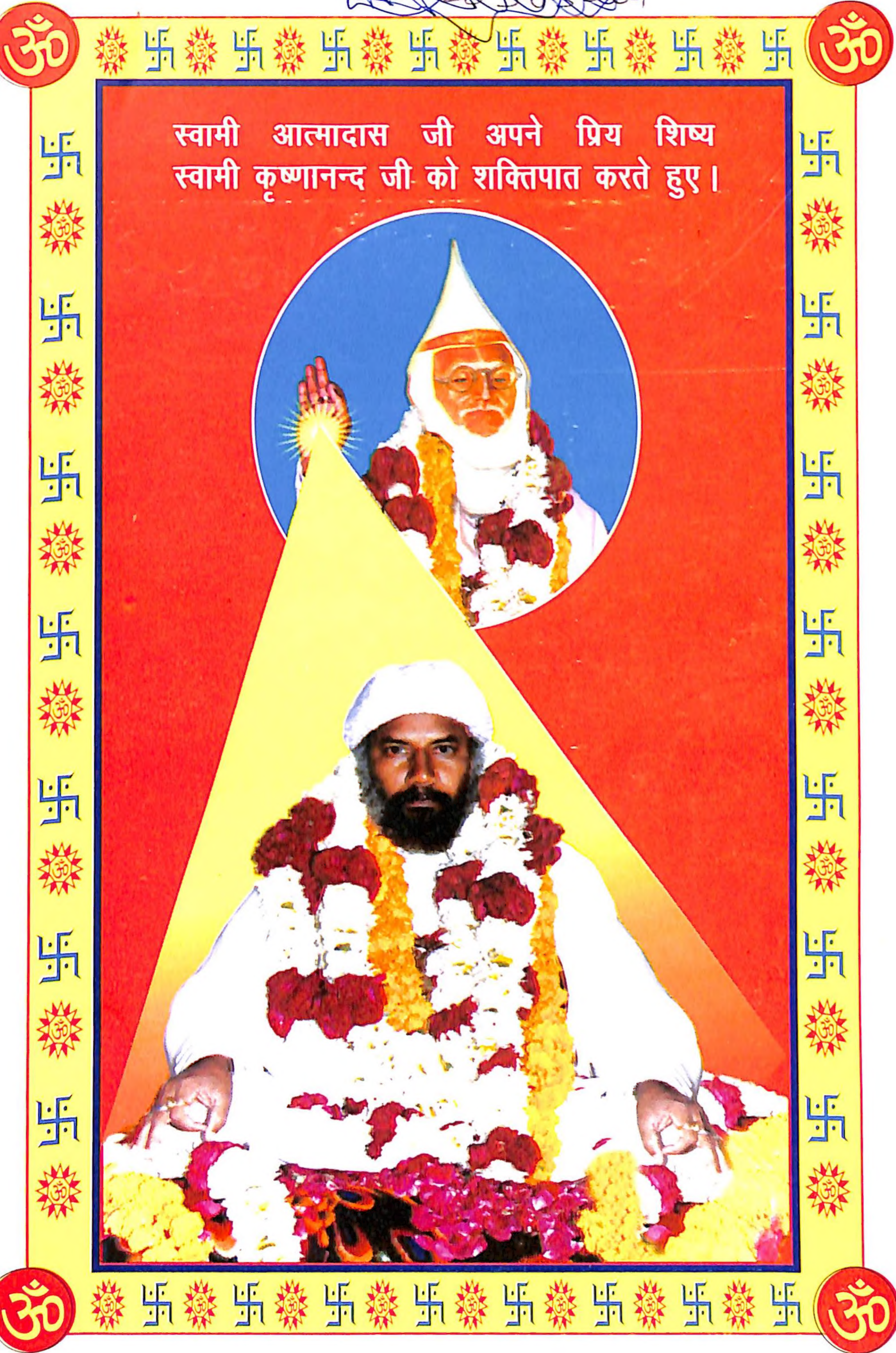
★ स्वामी कृष्णानन्द जी ★

कुण्डलिनी जागरण



कुण्डलिनी जागरण ★ स्वामी कृष्णानन्द जी ★ 80



स्वामी आत्मादास जी अपने प्रिय शिष्य
स्वामी कृष्णानन्द जी को शक्तिपात करते हुए।



कुण्डलिनी-जागरण

(क्रांति-महाजीवन)

लेखक :
स्वामी कृष्णानन्द



साधना पब्लिकेशन्स

सद्गुरु कॉन्सियसनेस सोसाईटी, एच-243, कुंवर सिंह नगर,
सद्गुरु आश्रम, निलोठी मोड़, नांगलोई, दिल्ली-41
दूरभाष : 011-25943002, 25942813

प्रकाशक :

साधना पब्लिकेशन्स

K-4/4, मॉडल टाउन-II,
दिल्ली-110009

फोन : 55496808, 27415504, 9818300870

ई-मेल : sadhna_publications@yahoo.co.in

मूल्य : 80/-

प्रथम संस्करण : 1996

द्वितीय परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण : 2005

शब्दांकन :

रावत कम्प्यूटर्स, गांधी नगर, दिल्ली-110031
दूरभाष : 011-22070075

मुद्रक :

डी॰ जी॰ प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-110032

लेखक स्वामीश्री का परिचय

आपका जन्म बिहार प्रांत में हुआ है। आपके दादाजी एक बुद्ध पुरुष थे, जिनका हठयोग, सहज योग, अष्टांग योग एवं भक्ति पर समान अधिकार था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीश्री पूर्व जन्म से ही सिद्ध हैं। तभी तो ऐसे पितामह के वंश में जन्म लिया। इनके पिताश्री भी बिहार सरकार में अधिकारी थे। बाद में संन्यास ले लिया। ऐसा ज्ञात होता है कि सिद्धि, साधुता, संन्यास आपको उत्तराधिकार में मिला है।

आप बचपन से ही साधना के प्रति जागरूक थे। पढ़ाई-लिखाई में भी प्रतिभा के धनी थे। अपनी कक्षा में सदैव प्रथम आते थे। विज्ञान, साहित्य, गणित में समान अधिकार रखते थे। आप पर गुरु अनुकंपा सदैव बरसती रही। अतएव आप हर क्षेत्र में समान रूप से सफल रहे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद आसाम के कामाख्या में रहकर आपने तंत्र विद्या को सिद्ध किया। फिर हिमालय के गोमुख से ऊपर नंदन वन, तपोवन में रहकर सहज योग एवं हठयोग को सिद्ध किया। पुनः केदारनाथ, तुंगनाथ, बद्रीनाथ, अलकापुरी इत्यादि में रहकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म साधनाएं प्राप्त कीं। आपने इस पृथ्वी के विभिन्न संत-महात्माओं का सान्निध्य प्राप्त किया।

आपने स्वामी आत्मादास जी की छत्रछाया में बैठकर 28 वर्ष की अवस्था में बुद्धत्व को प्राप्त किया। आपने अपने सद्गुरु की छत्रछाया में बैठकर विभिन्न लोकों की यात्राएं कीं, जो अतिरोमांचकारी हैं, विश्वसनीय हैं श्रद्धालुओं के लिए। अविश्वसनीय हैं—कोरे तार्किकों के लिए। आप बिना किसी का सहारा लिए यथार्थ सत्य, आंखों देखने-कहने के आदी हैं। आप सद्विप्र समाज की रचना के लिए कृत संकल्पित हैं। आपकी प्रत्येक पुस्तक लीक से हटकर है।

आपने बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बंगाल तथा दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर आश्रम स्थापित किए हैं। आपके सद्विप्र देश-विदेशों में फैले हैं, जो पवित्र और नैतिक जीवन के लिए कटिबद्ध हैं। सद्विप्र समाज सेवा एक विश्वव्यापी आध्यात्मिक संस्था है, जो आपके निर्देशन में जीवन के सच्चे मर्म को उजागर कर शाश्वत शांति की ओर समाज को अग्रसरित करती है। सद्विप्र समाज सेवा संपूर्ण विश्व को एक परिवार के रूप में देखती है।

●



सद्गुरु स्वामी आत्मादास जी

सद्गुरुधाम आश्रम
एच-243, कुंवर सिंह नगर, निलोठी मोड़,
नांगलोई, दिल्ली-110041

गुरु वंदना

ध्यायेत् सद्‌गुरु श्वेतरूपम् श्वेताम्बरम्
शोभितम् कर्णे-कुण्डल श्वेत शुभ्र मुकटम्
हीरा मणि मंडितम्॥
नाना माल मुक्तादि शोभित गला,
पद्‌मासने स्वस्थितम्॥
दयार्विद्य वीर सुप्रसन्न वदनम् सद्‌गुरुं तन्नमामि।
द्वै पदम्, द्वै भुजम, प्रसन्नवदनम्, द्वै नेत्रं दयात्नम्।
सेलि कंठ माल उर्ध्व तिलकम्॥
श्वेताम्बरी शोभितम् मेखला चक्रकस्य विचित्र टोपल सिरलसितम्।
तेजोमयी विग्रहम् बन्दे सद्‌गुरु योग दण्ड सहितम् करुणामय्॥
गमा-गमस्थम्, गमनादि शून्यम्, चिद्‌रूप दीपम्, तिमिरान्धनाशनम्
पश्यामि त्वामं सर्व जनान्ति रक्षम्, नमामि हंसम् परमात्म रूपम्॥

बंदगी

भेख को, लेख को, नागा को, निर्वाणी को, ज्ञानी को ध्यानी को, गुप्त को, प्रकट को, चार सौ संप्रदाय, बावन द्वारा अनंत कोटि वैष्णव सब संत महंतों को बंदगी, साहब को प्रणाम॥

॥ "साहिब बंदगी" ॥

गुरु वंदना

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तद् पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥1॥

गुरुर्ब्रह्म गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु साक्षात् परब्रह्म परमेश्वरः तस्मैश्री गुरवे नमः॥2॥

नौम्यादि ब्रह्म सर्वस्य कारणं करणं।
तथातदरूपं बंदे सद्गुरुं कर्म रेखा प्रशान्तयं॥3॥

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजा मूलं गुरु पदम्।
मंत्र मूलं गुरोर्वाक्य मोक्षमूलं गुरुः कृपा॥4॥

बंदौ गुरु पद नख मनिगनि ज्योति।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होति॥5॥

अनुक्रमणिका

कुण्डलिनी जागरण
(क्रांति-महाजीवन)

जब से सृष्टि का उद्भव हुआ, तब से हम चले हैं। अभी लक्ष्य तक पहुंचना तो दूर, हम सारतत्व को पहचान भी नहीं पाए। आखिर हमारी यात्रा कब तक चलेंगी। बार-बार जन्म लेते, पढ़ते लिखते, शादी करते, मकान बनाते, धन-वैभव के पीछे भागते, बच्चे के पीछे भागते, झूठ-सच करते, चोला बदल देते। आखिर हम कितनी बार चोला ग्रहण करेंगे ? कितनी बार बदलेंगे ? कोई सीमा रेखा है या अनंत। हम बार-बार के जीवन में स्थायी सुख एवं शांति चाहते हैं। जिसकी खोज में, तलाश में, जन्म से मृत्यु तक भटकते रह जाते हैं। परंतु वह सुख-शांति मृग-तृष्णा बनकर रह जाती है। अभी का मानव भोग एवं अर्थ की अति पर है। विज्ञान के माध्यम से प्रत्येक सुख-सुविधा इसे उपलब्ध हैं। परंतु आत्मिक शांति के स्तर पर निराश है। आखिर ऐसा क्यों ? क्या हमारी खोज गलत दिशा में भटक तो नहीं गई है ? धर्म मानव मात्र की मानसिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकता है। भौतिक सुख-साधन को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि वह भी उसकी शारीरिक एवं सामाजिक आवश्यकता है। परंतु वर्तमान मानव के लिए भौतिक-सुख ही प्रधान हो गया। जिसका परिणाम है आज का मानव समाज। परम पिता परमात्मा सबको स्थूल शरीर के साथ, बुद्धि, ज्ञान, विवेक, मननशीलता एवं आध्यात्मिकता की निधि उपलब्ध कराता है, परंतु यह विडंबना ही है कि इन निधियों का हम इस्तेमाल तक नहीं करते मानो जैसा मिला था वैसा भी नहीं लौटा पाते। तभी तो हम अंधविश्वास, अज्ञान एवं मूर्च्छित अवस्था में ही पूरा जीवन गंवा देते। हमने अपने में भी सत्य को झांक कर देखने की हिम्मत तक नहीं की। जबकि सत्य की खोज—जीवन के अस्तित्व के रहस्यों की खोज है। परंतु इस तरह की खोज में बहुत बड़ा खतरा है। इसलिए हम अपने मन को समझाने के लिए, परदा डालने के लिए, अपने को नास्तिकता से बचाने के लिए समाज में धार्मिकता की झूठी चादर ओढ़ने के लिए मान लिया जो पुराणों में लिखा है, पाक-ए-कुरान में लिखा है, बाइबिल

में लिखा है, गीता में लिखा है, वही शाश्वत सत्य है, अपरिवर्तनीय है, वही अंतिम सत्य है। अब हमारे चिंतन की कोई आवश्यकता नहीं। दो मिनट के लिए मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे गिरिजाघर चले जाओ, सिर झुका लो, कुछ उन्हें दान दे दो एवं चाहे जो इच्छा हो करते रहो, धार्मिक बने रहोगे।

क्या आपके चिंतन का प्रवाह रुक गया है या गतिहीन हो गया है ? संसार का अर्थ है विचित्रता, परिवर्तन, जो कल था आज बदल गया, जो आज है कल नहीं रहेगा। अतएव किसी भी मान्यता को शाश्वत सत्य कहकर अपनी बुद्धि-विवेक क्यों खो रहे हो ? इसी का परिणाम है हमको अपने ऊपर भी विश्वास नहीं रह गया है। हम अस्तित्वहीन हो चुके हैं। हम भिखारी बन दर-दर भटक रहे हैं। आखिर कब तक ? जीवन का यह अज्ञान, यह अपरिचय पीड़ादायी है, कष्टदायी है। यह है दुख का मूल कारण। जीवन के प्रवाह में मनुष्य विकास की जिस स्थिति पर पहुंचा है वह अधूरा है जिसका परिणाम है जीवन रूपी सत्य-अज्ञात एवं अपरिचित। अभी का मानव पदार्थों को भोगते-भोगते स्वयं भी भोगा जाता है और अंत में भोगते-भोगते साधन रूपी इंद्रियां भी शिथिल पड़ जाती हैं। शरीर कमजोर हो जाता है। एक मानव मन को एक चीज प्रिय है तो दूसरे को बिलकुल नहीं। क्या सुख विषयों में, पदार्थों में नहीं है ? क्या मानव मन में ही तो नहीं है ? क्या मानव में ही वह सबकुछ सुप्त अवस्था में छिपा हुआ है ? तब मानव की चेतना को विकास की अनेक कक्षाओं व आयामों से गुजरना होगा।

जागरण

जागरण की एक लंबी श्रृंखला मानव के भीतर प्रतीक्षारत है। अनेक चक्रों, अवरोहों को चीरकर मानव चेतना अपनी उच्चतम अवस्था पर पहुंच सकती है। तभी पीड़ाओं का अतिक्रमण एवं सत्य का बोध होगा। इतिहास इसका साक्षी है कि इस विराट मानव सभ्यता के चरम विकास को, सत्य को, बुद्धत्व को, कुछ लोग उपलब्ध हुए हैं। ऐसे ही लोगों को हम सदाशिव, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, क्राइस्ट, मुहम्मद, नानक, कबीर एवं रमण कहते हैं। और भी कुछ मनुष्य परमतत्व को उपलब्ध हुए हैं, जिनको इतिहास याद नहीं रख सका। अभी भी फूल खिल रहे हैं। मानव मन बुद्धत्व की तरफ बढ़ रहा है। इस तरह अनेक महामानवों ने हजारों वर्षों से सत्य के, अस्तित्व के, जीवन के रहस्यों व अतल गहराइयों की खोज में बड़ी अंतर्यात्राएं की हैं, उनकी बहुत

लंबी परंपरा नहीं है एवं अभी भी है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। पदार्थ जगत व स्थूल के रहस्यों की खोज विज्ञान ने की है। उसी प्रकार अस्तित्वगत अंतर्रात्म जगत अंतर्चेतना जगत की खोज भी है, जिसके पार विज्ञान को धर्म ने विकसित किया है। अतः मनुष्य के इस अस्तित्वगत अंतर्विकास एवं अंतर्यात्रा की जो प्रक्रिया खोजी गई है, उसी से ही धर्म का निर्माण हुआ। इसी खोज को धर्म साधना कहते हैं और इसकी अंतर्प्रक्रिया को योग।

जिस तरह वट वृक्ष का एक बीज पूर्ण वृक्ष में बदल जाता है। देखते ही देखते उसमें फल-फूल निकल आते हैं। उसी तरह मानव रूपी वृक्ष विकसित होता हुआ विराट जीवन वृक्ष बनता है। तब उसमें फूल खिलते हैं–ध्यान के, समाधि के। फल आते हैं–शांति के, प्रेम के, आनंद के। फिर उस मानव वृक्ष में सुगंध और आलोक फैलता है–मुक्ति का, अनुग्रह का। तब व्यक्ति खो ही जाता है–अनंत रहस्यमय अस्तित्व में। जीवन की सारी सीमाएं द्वंद्व और पीड़ाएं समाहित व शांत हो जाती हैं, उस परम तत्व की उपलब्धि में। तभी तो संत कबीर कहते हैं–

प्रेम गली अति सांकरी, तामे दो न समाय।
जब मैं था तब हरि नाहि, जब हरि है मैं नाहि॥

मनुष्यता का खोना

इस तरह मनुष्यता का परमात्मा से मिलन कैसे संभव है ? हो ही नहीं सकता। क्योंकि जब मिलन की घड़ी आती है तब मनुष्य खो जाता है और जब मनुष्य होता है तब मिलन की घड़ी नहीं आती। परमात्मा के साक्षात्कार के बाद अपना अलग अस्तित्व रख पाना असंभव है पुनःश्च–

हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हेराई।
बूंद समानि समुंद्र में सो कत हेरी जाई॥

बूंद रूपी मैं खो गई, सागर बचा। अब बूंद को कैसे वापिस किया जा सकता है। हम परमात्मा को खोजना चाहते हैं, लेकिन स्वयं को बचाकर। क्या यह संभव है ? परमात्मा को खोजने का एक ही ढंग है स्वयं को खोना।

हम सतत प्रयासरत रहते हैं स्वयं को बचाने के लिए। महर्षि रविंद्रनाथ ने एक प्यारी कहानी लिखी है। एक व्यक्ति परमात्मा की खोज में निकला। जंगल, पर्वत, नदी, नाला, आश्रम, मंदिर छान डाला। अचानक एक दिन किसी ने परमात्मा के महल का पता बता ही दिया। वह सीधे वहां पहुंच गया। वहां

नेम प्लेट लगी थी। वह ऊपर सीढ़ियों से चला गया। उस कक्ष के बाहर परमात्मा का नाम लिखा था। कॉल बेल का स्विच लगा था। उस व्यक्ति ने स्विच के ऊपर हाथ उठाया। सहसा भयभीत हो गया। सोचा घंटी बजते ही परमात्मा द्वार खोल देगा। फिर मैं क्या करूंगा ? उसने धीरे से अपने जूते निकाले। सीढ़ियों से नीचे उतरा एवं हाथ में जूता लेकर भागने लगा। कहीं परमात्मा पदचाप न सुन ले। वह अब भी परमात्मा को खोज रहा है। केवल उधर नहीं जाता जहां परमात्मा रहता है। चूंकि वहां स्वयं के खोने का भय है।

योग

यह भी विडंबना ही है कि हमारे संस्कार या कर्म भी हमारे साथ ही हैं। कर्म का नाश नहीं होता। अपना किया हुआ कर्म भोगना ही पड़ेगा। अतएव मन को निर्मल, निर्विकार, निर्जीव करने का नाम ही योग है। श्रेष्ठ कर्मों द्वारा संस्कारों को शुद्ध कर, विकर्मों को दग्धकर, सतचित्त आनंद होना ही योग है। चित्त को विकृतियों से निवृत्त कर परमतत्व में स्थित होना योग है। इसके लिए तो पुरुषार्थ स्वयं ही करना होगा। अतः उस अंतस से संबंध जोड़ने को ही योग कहते हैं। लेकिन उस उपलब्धि की खोज में तो स्वयं को ही निकालना होगा। यात्रा करनी होगी अपने भीतर। श्रम करना होगा स्वयं के अस्तित्व के साथ। साधना करनी होगी अपनी ही वृत्तियों व अंतस्थितियों के साथ। जगाना होगा अपने भीतर की सोई हुई शक्तियों को, सोए हुए केंद्रों को। सृष्टि चक्र के साथ-साथ चले हैं। अतएव यात्रा लंबी है कायरों एवं काहिलों के लिए। यात्रा अत्यंत लघु है—जिज्ञासु, धैर्यवान, श्रद्धालु, विश्वासी के लिए। बस एक बार साधना रूपी नदी में छलांग लगानी है, बस एक बार फिर वह नदी अपने आप अनंत समुद्र में मिल ही जाएगी। गुरु अनुकंपा प्रेम सहयोग तो साथ-साथ उस निर्झर रूपी झरने की तरह बहता रहेगा, जहां भी पथिक प्यासा महसूस करे निर्झर का स्वादपूर्ण जल ग्रहण कर ले। वह तो हर क्षण, हर समय छाया के रूप में खड़ा रहेगा। जिससे पथिक कहीं भी उस छाया में विश्राम कर ले।

तब साधक का एक-एक कण सारा अस्तित्व अनुग्रह और प्रार्थना से नाच उठेगा 'उसकी अनुकंपा अपार है।' इस तरह संपूर्ण व्यक्तित्व जाग उठता है, आनंद से परिपूर्ण हो जाता है, सत्य को उपलब्ध हो जाता है। मूल ऊर्जा से जुड़ जाना हीं मानव के जीवन की क्रांति कही जाएगी। वही होगा महामानव।

"क्रांति महा जीवन की।"

इस अवस्था में स्थान, काल एवं अवस्था का अभाव हो जाता है, शेष जो बचता है वही है परमतत्व, परम पुरुष। वही है परमात्मा जो सबमें प्रकाशित हो रहा है। वह अभेद्य है, वर्णातीत है। हालांकि जब से सृष्टि चली तभी से यह प्रश्न मानव मन को उद्वेलित करता रहा, क्या ईश्वर है ? कैसा है उसका अस्तित्व ? वह ज्ञात है या ज्ञेय ? वह प्रकाश है या प्रकाशक, इत्यादि। अनेकानेक प्रश्न हम लोगों के सामने भी आकर उठते हैं।

"परमात्मा ही है"

सत्य कहा जाए तो वह इन प्रश्नों से भी ऊपर है। यदि परमात्मा है, कहें तो उसी की दो बार पुनरुक्ति है। 'है' ही केवल काफी है। क्योंकि केवल वह ही है। 'है' केवल उसी के लिए ही प्रयोग संभव है। वह परतः सिद्ध व स्वतः सिद्ध के बंधनों से भी परे है। उसका दृष्टि खोलना ही सृष्टि है और दृष्टि का बंद कर लेना ही महाप्रलय। वही परम ज्ञान है एवं संपूर्ण ज्ञान का मूल भी है। उसके ज्ञान का तेज ही संपूर्ण जगत में दृष्टिगोचर होता है, फिर भी वह दृश्य है, न द्रष्टा, न ज्ञान है, न अज्ञान और न ही ज्ञनाज्ञान ही। उसे ही ऋग्वेद में कहा गया है—"परमात्मा एक है। अग्नि, यम, मातारिश्र आदि उसी के अनेक नाम विद्वानों ने दिए हैं।" यथा—

"एकंसद्रविप्रा बहुजा वदन्ति अप्रियं माते रिश्रवानि पाहि।"

उसे ही ईश्वर, गॉड, अल्ला, परम-पुरुष, साहब, सत्नाम, राम ऊंकारं, सहस्रनाम्ने पुरुषाय कहते हैं। हालांकि ये नाम भी मात्र उसे इंगित करते हैं। वास्तव में वह वर्णनातीत है। इसीलिए वैदिक ऋषि नेति-नेति कहे हैं। संत कबीर साहब भी उस अलख पुरुष का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सात समुद्र की मसि करों, लेखनि सब वनराय।
धरती सब कागद् करों, हरि गुण लिखा न जाय॥

आगे कहते हैं—

तन राता मन जात है, मन राता तन जाय।
तंन मन एकै होय रहें, तब हंस कबीर कहाय॥

परम पुरुष को प्राप्त हुआ जा सकता है। जब तन-मन एक हो जाए तब हंस की गति प्राप्त हो जाती है। यदि हम राम को अपना लक्ष्य बनाएंगे तो रामत्व को उपलब्ध हो सकते हैं। परंतु उसके लिए तड़प-उठना, जिज्ञासु होना, बेचैन होना तो होगा ही जैसे—

"राम वियोगी ना जिये,
जिये तो बाउर होय।

राम वियोगी विकल तन,
इन दुखवो मति कोय॥

बस ज्योंही तन-मन राम के लिए व्याकुल हो उठता है, गुरुकृपा हो जाती है और हम उसको उपलब्ध हो ही जाते हैं। मात्र हमें धैर्य एवं साहस की जरूरत है। हमने सुना है, एक बार महात्मा ईसा अपने शिष्यों के साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक ही जगह कुछ-कुछ दूरी पर आठ-दस गड्ढे खोदे हुए मिले। एक शिष्य ने पूछा ये गड्ढे कैसे हैं महाराज ? ईसा ने कहा, 'वत्स एक आदमी प्यासा था अतएव उसने एक गड्ढा खोदा। कुछ खोदने के बाद उसने अपना धैर्य खो दिया एवं विश्वास भी जाता रहा तथा उसको छोड़कर दूसरा गड्ढा खोदना शुरू कर दिया। इस तरह धैर्य एवं आत्मविश्वास के अभाव में एक गड्ढा छोड़-छोड़कर दूसरा खोदता गया, कहीं उसे पानी नहीं मिल पाया एवं मृत्यु को प्राप्त हो गया। यदि वह एक ही गड्ढा धैर्य से खोदता तो उसे जल भंडार उपलब्ध हो सकता था।

इस तरह हम जहां हैं, पहले देखें कहां हैं, कहीं नदी के तट पर ही तो नहीं हैं यदि तट पर हैं तो मात्र एक कदम बढ़ाने की जरूरत है, जहां पानी को उपलब्ध हो जाएंगे। यदि तट पर ही हैं एवं मालूम नहीं, साथ ही किसी अंजान अंधे से पूछ लिया कि नदी किधर है तो वह भी अपना सामर्थ्य जताने के लिए नदी की उल्टी दिशा में निर्देशित कर दिया। इस तरह हम और भटकाव को प्राप्त होते हैं। इसी से तो कहा गया है–'शीश दिए जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।'

जिसको ठीक-ठीक ज्ञान है, जो वहां पहुंच चुका होगा वही कह सकता है।

"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखिन देखी॥"

पढ़कर बताने में एवं स्वयं को जानकर जताने में बहुत अंतर है। तो आइए हम अब अंतर्यात्रा को तैयार हो जाएं। अपने पात्र को साफ कर लें, ठोककर देख लें, जल रुक सकता है या नहीं। पात्र कच्चा है या पक गया है। तो आइए हम अपने पात्र को तैयार कर पात्रता ग्रहण करें जिससे बादल रूपी गुरु बरसे तो पात्र ग्रहण कर सके, उसमें रुक सके। क्योंकि वह–

"कहन सुनन की है नहीं, समझन की है बात।"

उसे स्वयं ही समझना होगा स्वयं में ही उतरना होगा। उसके उतरते ही स्वयं का बोध हो जाएगा एवं वह नदी की तरह बह चलेगा, हम उसी में प्रवाहित हो जाएंगे। अब हमें 'हम' का भी भान नहीं रहेगा।

जागकर सीधे पद्मासन या सिद्धासन पर बैठ जाएं, तत्पश्चात गुरु मंत्र से परमात्मा का ध्यान 15 मिनट करें। इसके बाद जो स्वर चल जाए (दायां-बायां) उसी तरफ के हाथ से पृथ्वी मां का स्पर्श कर अपने इष्ट का स्मरण कर, प्रणाम करें। तदुपरांत स्वर की तरफ का ही पैर पृथ्वी पर रखें एवं प्रसन्नचित्त कार्य शुरू करें।

(2) जल–रात्रि में ही सोने से पूर्व तांबे के पात्र या मिट्टी के पात्र में पानी रख दें एवं कुल्लाकर इच्छाभर पानी पी लें। कम से कम एक लीटर पानी अवश्य पिएं।

(3) शौच–शौच के समय दाहिने स्वर को चलाएं एवं दांतों को दबाकर (मजबूती से) ही बैठें, जिससे जीवन भर दांत नहीं हिलें एवं लकवा तथा पक्षाघात की शिकायत न हो।

(4) व्यापक शौच–

(क) मुंह की सफाई–दातुन या ब्रुश से पूरब दिशा में बैठकर ही मुंह धोएं। मुंह धोते समय ही जिह्वा की लंबिका क्रिया तथा अमर लिंग का दर्शन (गुरु से सीख लें) भी कर लें। तत्पश्चात ठंडे पानी का छींटा दोनों आंखों पर एवं त्रिकुटी पर 7-7 बार दें, जिससे आंख की रोशनी ठीक रहे एवं मन मस्तिष्क प्रसन्न रहे।

(ख) स्नान–स्नान करते समय सबसे पहले जल नाभि केंद्र पर डालें जो धीरे-धीरे नीचे को जाए। जिससे शरीर की गरमी बाहर निकले एवं पाचन तंत्र सुदृढ़ हो, ब्रह्मचर्य परिपक्व हो। तत्पश्चात पानी नाभि केंद्र के ठीक पीछे रीढ़ की हड्डी पर डालें जो उसी तरह धीरे-धीरे नीचे को जाए। इसके बाद सिर के पिछले भाग पर पानी दें, इसके बाद पूर्ण स्नान करें।

(ग) लंगोटा–लंगोटा पहनने की विधि गुरु से सीख लें तथा लंगोटा पहनने के पहले लिंग के अग्रभाग के चमड़े को हटाकर पानी से साफ कर लेना चाहिए जिससे गंदगी जमा न हो।

(5) केश व पानी–गुप्तांग या किसी भी संधि स्थान (जोड़ों) पर के केश नहीं काटने चाहिए, क्योंकि यह विद्युत का कुचालक है एवं ब्रह्मचर्य धारण करने में मदद करता है। पेशाब करने के बाद मूत्रेंद्रिय को पानी से अवश्य धो लें।

(6) सूर्य नमस्कार–(क) स्नान के बाद भीगे कपड़े एवं शरीर से सूर्य नमस्कार निम्न मंत्र से करें (इस मंत्र की मुद्रा गुरु से सीख लें)

**''पुषन्ने कर्षेयम् सूर्य पजापत्यत्यूह रश्मीन समूह।
तेजोयन्ते रूपं कल्याण तमं तन्ते पश्यामि
-योऽसा-वसौ पुरुषः मोऽहमास्मि॥''**

इससे शरीर की बहुत-सी बीमारियां दूर हो जाती हैं तथा विचार भी नैतिक बनते हैं।

(ख) भूत यज्ञ—स्नान के बाद पेड़, पौधों (तुलसी) में जल डालना। प्रतिदिन नियमित रूप से एक घंटा या उपलब्ध समयानुसार पेड़-पौधों की सेवा करना, जीव जगत की सेवा करना एवं शारीरिक श्रम करना अनिवार्य है।

(7) साधना—साधना प्रत्येक साधक के लिए उसी तरह अत्यंत जरूरी है जैसे स्नान एवं भोजन। मन को स्वस्थ एवं पवित्र रखने के लिए गुरु के बताए गए मंत्र का स्वर के सहारे जाप करें, ध्यान करें। तत्पश्चात उपयुक्त आसन पर प्राणायाम कर पुनः ध्यान करें। अपने प्रतिदिन के समय को चार भागों में बांट लें। 6 घंटा विश्राम, 6 घंटा काम, 6 घंटा ध्यान एवं धर्म प्रचार, 6 घंटा अपने अन्य पारिवारिक या आश्रम के काम हेतु।

संन्यासी चित्त के व्यक्ति को चार बार साधना करना ही होगा तथा गृहस्थ चित्त के व्यक्ति को सुबह-शाम अवश्य साधना करना ही होगा। संन्यास घर छोड़ने एवं कपड़ा बदलने का नाम नहीं है अपितु चित्त-वृत्ति बदलने का नाम है।

(8) भोजन—भोजन सतोगुणी एवं रजोगुणी ही ग्रहण करना चाहिए। जिस भोजन से शरीर एवं मन दोनों का सम्यक रूप से विकास होता है, वह सतोगुणी है। जिससे शरीर की उन्नति तो होती है पर मन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता वह है रजोगुण भोजन। जिस भोजन के ग्रहण करने से शरीर की उन्नति नहीं होती है और न अवनति बल्कि मन की अवनति होती है वह तमोगुणी भोजन कहलाता है। जैसे अन्न, फल-फूल, मूलकंद, दूध एवं दही सतोगुणी हैं तथा मादक भोजन तमोगुणी प्रधान भोजन कहा जाता है।

भोजन से पूर्व मुंह, हाथ-पैर, ताजे-ठण्डे जल से अवश्य धो लें जिससे जठराग्नि का मुंह खुल जाए तथा बाहर के कीटाणु धुल जाएं।

तत्पश्चात प्रसन्नचित्त काष्ठ या कंबल पर बैठ जाएं तथा कुछ पानी पी लेना श्रेयस्कर है। जिससे पाचन-तंत्र ठीक रहे एवं चित्त-वृत्तियां शांत रहें। भोजन के पूर्व परमात्मा को याद कर ध्यान करें एवं इसे निम्न मंत्र से अर्पण कर ही ग्रहण करें।

"तव द्रव्यं गुरुदेवं तुभ्यमेव समर्पये"

भोजन करते समय पानी न पीएं, एक घंटा बाद ही पानी पिएं जिससे पाचन ठीक हो सके तथा गैस का निर्माण न हो सके।

(10) विश्राम—सुबह के भोजन के बाद बाईं करवट से 10 मिनट

विश्राम ले लें, एवं दाहिना स्वर चलावें तथा रात्रि के भोजन के पश्चात 10 मिनट टहलें तथा सोने से पूर्व पैर धोकर पानी पी लें। इससे पाचन शक्ति बढ़ जाती है तथा विचार नैतिक बने रहते हैं। खाने के बाद दोनों समय पेशाब कर जल से लिंग को धो लेना चाहिए जिससे धातु क्षीणता एवं स्वप्नदोष की शिकायत से बच सकें। जब कभी भी पेशाब करें, पानी का प्रयोग अवश्य करें।

(11) उपवास—हर मास शुक्ल पक्ष में चतुर्दशी को निर्जला या जल के साथ उपवास रखें तथा 24 घंटे के उपरांत पूर्णिमा में हल्का सात्विक भोजन ग्रहण करें तथा कृष्ण पक्ष में आमावस्या को व्रत रखें। यह सूर्योदय तक गिना जाता है। इससे शरीर स्वस्थ रहता है तथा आध्यात्मिक उन्नति भी होती है।

(12) शादी विवाह—तिलक, दहेज लेना-देना अपराध है तथा उस तरह की शादी-विवाह का बहिष्कार करें, शादी में जाति बंधन जरूरी नहीं।

(13) पड़ोसी के प्रति कर्तव्य—अपने आस-पास के लोगों के दुख-दर्द का खयाल करें। प्रत्येक दिन एक नेक कार्य करें तथा उसे भूल जाएं, दूसरे दिन के नेक कार्य को सोचें।

(14) विष्णुभाग (गुरुदान)—अपनी कमाई का कुछ हिस्सा दान अवश्य करें जिससे समाज के कमजोर उपेक्षित वर्ग का कल्याण हो सके। यह न्यूनतम 2% से 5% तक होना चाहिए, अपने नजदीक के नैतिक पुरुषों या गुरु को या गुरु दरबार में जहां से मानवता का कल्याण सन्निहित हो। अन्यथा प्रकृति दवा के रूप में कर वसूल लेती है। गुरुदान प्रतिदिन एक बार अवश्य करें। खाने के पदार्थ से एक मुट्ठी एवं कुछ पैसे निकाल कर रख दें। जिसे गुरु आश्रम में सप्रेम भेट करें।

(15) इष्ट एवं आदर्श—अपने गुरु के द्वारा निर्देशित इष्ट एवं आदर्श पर पूर्ण निष्ठा कर आदर्श आचार संहिता को मानकर उस पर सतत चलना चाहिए। गुरु वंदना दिन भर में तीन बार एवं गुरु दान एक बार अवश्य करें। गुरु के खिलाफ सुनना, बोलना अपराध है। इसे ब्रह्महत्या का दोष कहा गया है।

(16) धर्म गोष्ठी—गुरु के द्वारा निर्देशित धर्म सम्मेलन, चरम निर्देश को प्रतिदिन याद करना या दोहराना चाहिए। सप्ताह में जहां भी संभव हो यदि नजदीक जीवन जागृति केंद्र (मंदिर) हो तो अवश्य जाएं एवं सत्संग का लाभ लें। स्वयं साधना करना एवं दूसरे को करने के लिए उत्साहित करना भी गुरु सेवा ही है।

(17) रात्रि विश्राम—सोते समय गुरु मंत्र का स्मरण कर दिनभर के

कर्म का अवलोकन कर लें तथा गलती के लिए परमपिता (गुरु) से माफी मांग लें तथा कल के कार्यक्रम को बना लें। गुरु मंत्र का जाप करते हुए प्रसन्नचित्त से, ध्यान मुद्रा प्रकाश से परिपूर्ण हो, आनंद से पूर्ण मुस्कुराते हुए, निश्चित समय पर जगने का मन को आदेशित कर ऊर्जा भर कर परमपिता की गोद में सो जाएं।

भ्रांत धारणा

मानव मन में युगों से यह भ्रांत धारणा है कि साधना के लिए पत्नी, बच्चे, घर-द्वार छोड़कर वन में जाना है। वहां लाल, पीला या काला आदि वस्त्र धारण कर कंदमूल पर रहकर धूनी रमाने की आवश्यकता है। गरमी में पंचाग्नि एवं जाड़े में गंगा जल में खड़े रहकर अस्वाभाविक ढंग से जगत में अपने को पेश करना है। जिससे लोग उन्हें तपस्वी सिद्ध बाबा के नाम से जान सकें। शरीर को विभिन्न मुद्रा में रखने या विभिन्न परिवेश में रहने मात्र से कोई भी व्यक्ति शांति को उपलबद्ध नहीं हो सकता बल्कि अशांत एवं विक्षिप्त-सा हो जाता है। हां, अहम भाव की पुष्टी जरूर होती है। परंतु वास्तविकता से कोसों दूर हो जाते हैं। अतएव साधना का सच्चा अर्थ है–स्वाभाविकता, शांति एवं समता। अस्वाभाविक परिस्थितियों में की गई तथाकथित साधना में प्रतिक्रियात्मक जड़त्व के बीज बने रहते हैं, जो अनुकूल परिस्थिति पाकर अंकुरित ही नहीं होते वरन पल्लवित एवं पुष्पित भी हो जाते हैं, जो साधुता के लिए कलंक के रूप हैं। अतएव आपका यह जन्म अत्यंत मूल्यवान है इसे बिना गंवाए, समय से सद्गुरु की शरण में चले जाएं। एक समय में तारे के गत गुरु अनंत होते हैं। परंतु सद्गुरु एक ही होता है। जिसके प्रकाश से जाने अनजाने सभी गुरु प्रकाशित होते हैं।

आश्रम

आप जहां हैं वहां रहें, अपने को ठीक से देख लें, परख लें एवं आगे कदम उठाना शुरू कर दें। आपके सामने नैतिक पुरुषों की भी एक लंबी शृंखला है एवं अनैतिकों की भी। अत्रि, भारद्वाज, वशिष्ठ, जनक, व्यास, गर्ग, गौतम, हरीशचंद्र, शिव, राम, कृष्ण, रविदास, कबीर, नानक इत्यादि महामानव कहां गए ? जरा आप इनके विषय में आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मनन करें। आप

इस पृथ्वी पर जहां जाएंगे वहां ही रहने के लिए गृह निर्माण करेंगे, कुछ लोग आगे-पीछे होंगे। हां, आप नाम परिवर्तन अवश्य कर लेंगे, अब आप आश्रम कहेंगे एवं पुत्र-पुत्री की जगह शिष्य-शिष्या। समय पर सद्गुरु जो जगह निर्देशित करे, वही जगह आपके लिए आश्रम है। उनका कार्य करना ही योग है। उनके निर्देशन में कार्य ही निष्कर्म है। उसकी कृपा ही मुक्ति का द्वार खोलती है। उसकी उपस्थिति ही सूर्योदय है। सूर्योदय में बत्ती जलाने का प्रयास करना उचित नहीं है, बल्कि निष्कर्म में लग जाना ही साधना का पावन मार्ग है।

योगयुक्त

केवल नाम बदल जाता है जैसे नमक को राम-रस, दाल को बैकुण्ठी कह लेते हैं। यानी नाक सामने से सीधा न छू-कर घुमाकर छू लेते हैं। संन्यासी कहकर संतोष कर लेते हैं। अब आवश्यकता है आप जहां भी रहें वहीं योग युक्त अवस्था में रहें। योग युक्त धारण किए बिना कोई भी व्यक्ति परमात्मा की प्रेरणा, आशीर्वाद ले ही नहीं सकता। क्योंकि यही अवस्था तो कवच है जो माया से बचा सकती है। मायापुरी तो है ही तमो प्रधान। अतएव योगी अपने ही अंदर योग की कुटिया में रहकर अनुभव कर सकता है, परमानंद की। इस स्थिति में स्वयं को देह और देह के संबंधों से अलग (न्यारा) कर्मातीत आत्मा निश्चित करके एक परमपिता परमात्मा की ही अनन्य अखण्ड, आनंदमय स्मृति में स्थित रहना है। इसी अशरीरी आत्मिक स्थिति का **रसास्वादन करते रहना ही योग-युक्त या योग निष्ठ है।** इस स्थिति में रहकर ही **परमपिता के सामीप्य में जगत का सारा कार्य जनक सा संपन्न करना ही कर्मयोग है।** योग युक्त रहकर जो भी कार्य कियां जाएगा वह श्रेष्ठ होगा और करने वाला मनुष्य–देवता होगा। नर-नारायण स्वरूप होगा। प्रभु के नाते से ही जागतिक नाता होगा। उसी का जगत, उसी का कर्म, उसी का कार्य। हम निमित्त मात्र हैं। 'एकश्च पंथा बहुश्च लोकाः।' सद्गुरु की शरण में रहकर उनकी आज्ञा अनुसार एक मार्ग का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। यह मेरा अपना अनुभव है कि गुरु की छत्रछाया में रहकर किसी भी माध्यम से योग युक्त हो जाएं तथा कुण्डली जाग्रत हो जाए। आत्मपद में स्थित हो जाएं तो सारा मार्ग अपने आप ज्ञात हो जाता है। गुरु अपने अनुभव के अनुसार जब शिष्य में निर्माण का कार्य करता है, उसमें पात्रता लाता है, सद्गुण का विकास

कर ज्ञान-वैराग्य का पंख लगाता है, तब वह गुरु ब्रह्मा का कार्य कर रहा होता है। यानी उस स्थिति में गुरु को ब्रह्मा कहा जाता है। निर्माण के पश्चात उसे संचालित करने की आवश्यकता होती है। जब गुरु कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्व दिशा में संचालित कर दिव्य-दृष्टि प्रदान करता है। तब गुरु विष्णु का कार्य कर रहा होता है। उस स्थिति में उस गुरु को विष्णु कहा जाता है। जब गुरु शिष्य के काम, क्रोध, लोभ, अहंकार इत्यादि दोषों का रूपांतरण कर परम पुरुष का साक्षात करता है तब वह महेश का कार्य कर रहा होता है एवं उस स्थिति में गुरु को महेश कहा जाता है। जब गुरु परम पुरुष का साक्षात्कार कराता है। तब गुरु एवं शिष्य तथा ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता। वह अपने समान बना लेता है, तब गुरु पारब्रह्म परमेश्वर कहा जाता है।

तब यह मंत्र पूर्ण होता है–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात परंब्रह्म (परमेश्वरः) तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

गुरु मूर्ति का स्थान

इस तरह गुरु अनुकंपा से ही पूर्ण विश्वासी श्रद्धा युक्त शिष्य परम पुरुष को पाने में समर्थ हो सकता है। जब ध्यान निराकार निर्गुण ज्योति स्वरूप पर नहीं टिकता, मद, मोह, लोभ काम इत्यादि वृत्तियां मन को सताने लगती हैं। जब रक्षा हेतु साधक को गुरु मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। जब गुरु का ध्यान करते हैं, ये विकार उसी तरह तिरोहित होते हैं जैसे वायु से मेघ, सूर्य से अंधकार। पूजा की जरूरत है जिससे मन-बुद्धि परम पवित्र रहे, वृत्तियां सद्गुण में लगी रहें तो गुरु पद की पूजा ही श्रेयस्कर है। यदि गुरु दूर हो तो मानसिक पूजा, अर्चना करना ही श्रेयस्कर है। साधक को गुरु पर इतना अटूट विश्वास करनां ही होगा कि जो भी गुरु मुख से निकल रहा है, वह मंत्र ही नहीं है, मंत्र का मूल है। यानी उस वाक्य का अक्षरशः पालन करना ही श्रेयस्कर है। यदि साधक इन तीनों को अपने जीवन में उतार लेता है तो उसे सिद्ध बनने से कोई रोक ही नहीं सकता। गुरुकृपा अपने आप स्वतः हो जाती है। उसके लिए अनुनय-विनय करने की जरूरत नहीं है। गुरुकृपा से मोक्ष को उपलब्ध हो जाएगा। इस तरह शिष्य के, साधक के जीवन में निम्न श्लोक पूर्ण हो जाएगा–

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजा मूलं गुरु पदम्।
मंत्र-मूलं गुरोर्वाक्यम् मोक्ष मूलं गुरु कृपा॥

तभी तो संत कवि तुलसीदास जी अपना अनुभव कहे हैं—

गुरु बिन भव निधि तरै न कोई।
विरंचि शंकर सम जो होई॥

गुरु मूर्ति को पूजा के पवित्र ईशान कोण पर रख कर धूप, दीप जलाकर, मंत्र जाप करते हुए गुरु के तिलक पर त्राटक ध्यान करें। आंख को आदेश दें कि संसार को बहुत देखा, अब गुरु के माध्यम से गोविंद को देखें। त्राटक करें। आंखें न गिरें। आंख में आंसू आएगा। आने दो। इससे आपकी आंखें बड़ी हो जाएंगी। चेहरा चमकने लगेगा। बुद्धि का विकास होगा, आपकी इच्छा शक्ति दृढ़ होगी। आपका सोया हुआ कार्य स्वतः पूर्ण होने लगेगा। अपने कान को आदेश दें कि बाहर की सुनना बंद कर अंदर की ओ३म्कार ध्वनि सुन। नाक को आदेश दें कि गहरा श्वास ले प्रत्येक श्वास नाभी से नीचे उतरे। जीभ को आदेश दें कि आप से पूछ कर ही वाणी का प्रयोग एवं खाद्य पदार्थ स्वीकार करे। जीभ खेचरी मुद्रा में रहे। अंगुली ज्ञान मुद्रा में रहे। त्वचा पर आपका आदेश रहे। इन्हीं पांचों इंद्रियों के सम्मिलित प्रयास का नाम है पंचजन्य शंख। फिर आपकी साधना अग्रगति करेगी एवं गुरु अनुकंपा आप पर बरसेगी।

दृढ़ योग

इसी संदर्भ में अपना अनुभव, जिसे गुरु आश्रम वाराणसी में योग युक्त रहकर जो कुछ भी किया है, इन पन्नों पर यथासंभव लिखने की कोशिश कर रहा हूं। हालांकि सबकुछ लिखना संभव नहीं है। न ही कहना संभव है। सबकुछ जानना तो गुरु शरण में रहकर ही संभव है। फिर भी बहुत लोगों के आग्रह पर एवं अपने परम पूज्य सद्गुरु स्वामी आत्मादास जी महाराज की अनुकंपा से उद्धत करने की चेष्टा कर रहा हूं।

हठं बिना राजयोगो, राजयोगं बिना हठः।
तस्मा प्रवर्तते योगी, हठे सद्गुरु मार्गतः॥

हठ के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग सिद्ध नहीं होता। अतएव योगी को उचित है कि योगवेत्ता सद्गुरु द्वारा हठयोग में प्रवृत्त हो। क्योंकि यह भी कहा गया है कि जो मनुष्य इस शरीर में योग का आश्रय ग्रहण नहीं करते, वे केवल इंद्रिय भोग के लिए ही संसार में जीते हैं। इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं है—

"स्थिते देहे जीवति च भोगं न श्रियते गृशम्।
इन्द्रियार्थेर्पि भोगेषु स जीवति न संशय॥

हठयोग

बलपूर्वक जोड़ना। 'ह' अर्थात् इड़ा (इंगला) यानी सूर्य स्वर तथा 'ठ' यानी पिंगला (चंद्रस्वर) के द्वारा पूरक, कुंभक तथा रेचक एवं पुनः पूरक, कुंभक रेचक कर बीच की नाड़ी का शोधन करें, जिसे ब्रह्म नाड़ी या सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। जिसमें अनंत काल से सोई हुई कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊर्ध्व गति से चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रसार तक जाती है। इस प्रक्रिया को हठयोग कहते हैं। इसी से कहा गया है कि हठयोगी के लिए त्रिलोक में सब कुछ संभव है। यथा–

न तस्य दुर्लभं किंचितेषु लोकेषु विद्यते।

इस तरह साधक को हठयोग करने के पूर्व एक आसन पर कम से कम तीन घंटा बैठने का अभ्यास अति आवश्यक है। प्राणायाम के लिए पद्मासन पर बैठें, ज्यादा श्रेयस्कर होगा तथा जब भी पद्मासन पर बैठें उत्तर दिशा में ही बैठें तथा अन्य क्रियाएं सिद्धासन से ज्यादा उचित होगा। सिद्धासन पर सुबह पूरब दिशा तथा शाम को पश्चिम दिशा में गुरु के आदेशानुसार सूर्य स्वर या चंद्र स्वर से प्राणायाम शुरू करना चाहिए। यदि सर्दी का मौसम हो या सर्द जगह तो सूर्य स्वर से शुरू करना चाहिए एवं गरम मौसम या गरम शरीर या स्थान पर चंद्र स्वर से शुरू करना चाहिए। प्राणायाम शुरू करने के पहले निम्न प्राणायाम तथा मुद्रा गुरु से सीख लेनी चाहिए–

प्राणायाम-भस्त्रिका, कपाल भाति, सूर्य भेदी, चतुर्थ प्राणायाम।

मुद्रा–खेचरी, विपरीत करणी, महाबंध, महाबोध, महामुद्रा, अश्विनी, योनि-मुद्रा शक्ति चालिनी ये कुण्डली को जाग्रत करने में सहायक सिद्ध होते हैं। अब प्राणायाम करने के पहले समझ लेना चाहिए कि कुण्डलिनी है क्या ?

कुण्डलिनी शक्ति

यह एक शक्ति का नाम है, ऊर्जा का नाम है। जो अनंत जन्मों से संस्कारों से दबी सोई हुई है। यह वह शक्ति है जो शरीर एवं आत्मा के मिलन बिंदु पर है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के बहुत से मिलन बिंदु हैं। जो मेरुदण्ड के निम्न भाग से उच्चतम भाग (मस्तक) में स्थित हैं। जो शरीर, मन

और आत्मा का भी मिलन विंदु है। जहां से ये एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। साधारण योगियों के तीन चक्र ही जाग्रत रहते हैं। शेष ऊपर वाले प्रसुप्त रहते हैं। ये चक्र ही मिलन विंदु हैं। विशेष साधना से ऊपर के चक्र प्रबुद्ध किए जाते हैं। इनकी सक्रियता से एक विशेष प्रकार की चेतना प्रगट होती है। देह और मन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जवकि हमारे विचार एवं भावना देह को प्रभावित नहीं करते, वल्कि उसे रूपांतरित करते हैं। इसमें अनंत शक्ति छिपी हुई है। ब्रह्माण्ड में जितनी शक्तियां हैं, परमपिता ने उन समस्त शक्तियों को शरीर रूपी पिण्ड में बीज रूप में छिपा दिया है। यह कुण्डलिनी मेरुदण्ड के भीतर स्थित सुषुम्ना नाड़ी का मुख त्रिकोण यानी योनि मण्डल के मध्य स्थान पर स्थित है। यह अति सूक्ष्म विद्युत ऊर्जा से परिपूर्ण दिव्य शक्ति से पूर्ण साढ़े तीन लपेटे खाए हुई, अपनी पूंछ को अपने ही मुंह में दबाए हुए अनंत काल से सोई हुई है। जिसका शरीर शास्त्री अभी तक पता नहीं लगा सके। परंतु भारतीय तत्ववेत्ता ही देखते हैं या इसका विषद वर्णन शास्त्रों में कह गए हैं कि इसके दर्शन मात्र से ही जन्मों जन्म का पाप संस्कार स्वाहा हो जाता है। ऊर्जा से शरीर परिपूर्ण हो जाता है। यही शक्ति वासना का केंद्र है। पुरुषत्व का केंद्र है। ऊर्ध्व गति होने पर मोक्ष का द्वार है। साधक के दृढ़ इच्छा शक्ति एवं सद्गुरु की अनुकंपा से मानसिक शक्ति को सुषुम्ना में प्रवाहित करना होगा। जिससे साधक आध्यात्मिक प्रकाश के द्वारा अशुभ के बीज को निर्मूल कर सकता है।

कुण्डलिनी जागरण

इसकी ऊर्जा अनंत जन्मों से शरीर की तरफ रही है। जो काम शक्ति (Sex) बन जाती है। परंतु जब योग युक्त द्वारा इसे जगाया जाता है तो वह उर्ध्वगामी होकर आत्मा की तरफ बहने लगती है तथा काम में अधोगामी होकर शरीर की तरफ सोये हुए मात्र स्पंदित हो जाती है। यह शक्ति (Sex Centre) यौवन केंद्र के बिलकुल समीप सोई हुई है। जब कुण्डलिनी जग जाती है तो सारा शरीर ऊर्जा से पूर्ण हो जाता है। सारा विश्व ब्रह्माण्ड अपने में समाया हुआ लगता है, अपने अंदर मालूम होता है, शक्ति की बाढ़ आ गई। नदी टूट गई, साधक उसमें डूबता चला गया। परंतु यह डूबना भी आनंददायक मालूम होता है। यदि इस समय गुरुकृपा हो तो दुगुनी ताकत से ऊर्जा समाहित होती है। जैसे नीचे से कुण्डलिनी रूपी नदी का पानी बढ़ रहा हो तथा ऊपर से गुरु कृपा

रूपी आशीर्वाद या शक्तिपात रूपी वर्षा हो रही हो। तब फिर साधक की साधना में चार चांद लग जाते हैं।

कुण्डलिनी का जागना यानी नदी का बाढ़ आना अपना होता है। शक्तिपात गुरु का होता है। हालांकि दोनों परोक्ष रूप से ही संभव है। हमें मात्र पात्र बनना है। ग्राहकता मात्र अपने आप में रखना है। हां कुण्डलिनी के जगने से जैसे बाढ़ का पानी चारों तरफ से उमड़ा करता है, उसी तरह सूक्ष्म शक्ति का चारों तरफ से हमला है। साधारण साधक विक्षिप्त या पागल हो जाते हैं, क्योंकि पानी, शक्ति का बांध टूट जाता है। जिसे चतुर साधक ही नियंत्रित कर सकता है। कुछ लोग पुस्तक पढ़कर कुण्डलिनी जाग्रत करने की कुचेष्टा करते हैं। जिसका परिणाम भयंकर हो जाता है। कुछ विद्वान गुरु अंजाने में निर्देश शिष्य को दे देते हैं। जिससे ऊर्जा के जागरण होने पर उसे संभाल नहीं पाते हैं। तब वह खून का वमन करने लगते हैं या विभिन्न रोगों का शिकार हो जाते हैं। इनका जीवन कष्टकर हो जाता है। ऐसे भटके साधक मेरे पास आए हैं। जिन्हें संभालने में बहुत कठिनाई होती है। क्योंकि इस विषम परिस्थिति में उस साधक में एक भयानक मानसिक धूर्णिवात का निर्माण कर उसके स्नायुओं और देह-मन को झकझोर कर उसे पूरी तरह विध्वंस कर सकती है। अतएव आप विज्ञ गुरु से ही निर्देश प्राप्त करें।

यह शक्ति उसी तरह की मालूम होती है जैसे किसी कमरे में हजारों-हजार वाट के सैकड़ों बल्ब लगा दिए हों जिसके बारे में पूर्व किसी भी प्रकार की जानकारी नहीं हो एवं कमरे में जाते ही स्विच ऑन कर दिया जाए, आंख एकाएक चकाचौंध में पड़ जाएगी, बुद्धि तिलमिला जाएगी, वही स्थिति है कुण्डलिनी की। उससे सैकड़ों सूर्य के समान प्रकाश तथा रंग-बिरंगे रूप में विशाल सर्पिणी भी दिखाई पड़ सकती है। विभिन्न वाद्य भी सुनाई पड़ने लगते हैं। सारा कुछ साधक के लिए अनहोनी घटना होता है। जब यह कुण्डलिनी उर्ध्व गति से चलती है तो जिस चक्र पर पहुंचती है वह अधोमुख से उर्ध्व मुख होकर खिल जाता है। प्रकाश से भर जाता है। इस तरह सारे चक्रों को पार करते हुए विभिन्न अनुभव एवं शक्ति संपन्न योगी की कुण्डलिनी जब सहस्रार तक पहुंचती है तब सारी वृत्तियों को भस्म कर असंप्रज्ञात समाधि को उपलब्ध होता है।

कुण्डलिनी जाग्रत होने पर विभिन्न प्रकार की शक्ति तथा अनुभव प्राप्त होता है। परंतु योगी को प्रगट करने से मना कर दिया जाता है, अन्यथा शक्ति क्षीण होने की संभावना या जागतिक वृत्ति में फंसकर श्राप या आशीर्वाद देने

के चक्र में पड़ जाने की ज्यादा संभावना है। कुछ साधक अन्य कनिष्ठ लोगों में संचित शक्ति दूरदर्शन एवं मन की बात जानना आदि क्षुद्र सिद्धियों के रूप में अभिव्यक्ति करते हैं। इससे साधक अपने शैशव अवस्था में ही अहंकारी बन जाते हैं। जिससे ये अध्यात्मिक दृष्टि दिवालिया बन जाते हैं। कुण्डलिनी का जागरण एवं उच्चतर के चक्रों पर गमन करना एवं पुनः नीचे गिरना भयानक परिणाम देता है। अतएव साधक को जप, ध्यान, प्रार्थना के अभ्यास एवं गुरु के नैतिक अनुशासन में रहना ही होगा। अन्यथा योगी मूल उद्देश्य से भटक जाता है। जबकि पूरी सृष्टि उसकी इच्छा मात्र से संचालित हो सकती है। अनंत से मिलकर योगी अनंत बन जाता है। अतएव इस अवस्था में साधक को विशेष सावधानी की जरूरत है। इस अवस्था में योगी के लिए भगवान शंकर ने कहा है कि योगी के लिए कपड़ा का भान नहीं होता है। दिशाएं ही कपड़ा है। शून्य में खड़ा, नग्न ही खड़ा हो जाता है, हर समय एक ही निरंजन रस में मग्न रहता है।

यदि नगर या गांव में प्रवेश करना होता है तो सामाजिकता बस औरतों द्वारा त्याज्य करकटकथ का ही लंगोटा बनाकर पहन लेता है तथा राजमार्ग का परित्याग कर अन्य रास्ते से चला जाता है। शरीर की रक्षार्थ कुछ भी भिक्षा ग्रहण कर लेता है।

'रथ्या विरचित करकट कथा।
पून्यापून्ये विवर्जित पंथा।
शून्यागारे तिष्ठित नग्ना।
शुद्ध निरंजन समरस मग्ना।।

योगी को अत्यंत एकाकी एवं संसार से अपने काम तक ही संबंध सीमित रखने का निर्देश दिया गया है। क्योंकि यह अभ्यास का काल होता है। प्राणायाम शुरू करने के पहले आसन सिद्ध कर साधक अपने गुरु से मंत्र जाग्रत कराकर निम्न विधि का अनुपालन करे--

(1) एकांत स्थान अपने उपयोग हेतु खोज ले। मठ-मंदिर, आश्रम या गंगा का किनारा हो तो उत्तम अन्यथा साधक अपने घर ही एक छोटा-सा कमरा जिसमें साफ-स्वच्छ हवा आती हो। शोरगुल से दूर हो। एकांत का अनुभव कर सके, प्रयोग करे। गुरु से आदेश प्राप्त कर स्थान, तिथि, दिन, समय निश्चित कर ले।

(2) कमरे में एक कंबल बिछा दे, अपने गुरु की प्रतिमा अपने सामने रख दे।

(३) आसन को स्पर्श करे निम्न मंत्र से प्रणाम करे—

"सत् पुरुष को सुमिर के, आसन करो सम्भाल।
तापर हंसा पौढ़े, सद्गुरु सहाय।"

तत्पश्चात आसन पर प्रसन्नचित्त पद्मासन पर बिलकुल सीधे बैठ जाए। रीढ़ की हड्डी बिलकुल सीधी होनी चाहिए।

अब शरीर शुद्धि एवं विघ्न निवारण हेतु सद्गुरु से निम्न मंत्र जाग्रत करवाकर ग्रहण करे, एवं क्रिया आरंभ करें।

आत्म-प्रतिष्ठा मंत्र एवं क्रिया—

हाथ को छाती पर रखें तथा अपनी चित्त वृत्ति को भी हृदय पर ले जाएं तब निम्न मंत्र का उच्चारण करें—

आत्मन अकासद् भवति, आकाशदि वार्यु भवति, वार्यु अग्नि भवति, अग्नि ओंकार भवति। ओंकार व्यार्हित भवति, व्यार्हित गायत्री भवति, गायत्री सावित्री भवति, सावित्री सरस्वती भवति, सरस्वती वेद्दो भवति, वेदोभ्यो लोकाः।

प्राण प्रतिष्ठा—

"ओ आं ह्रीं श्रीं क्लीं ऊं यं रं लं वं शं षं सं हं हंसः सोहं मम् प्राण इह प्राणः।

ओं आं ह्रीं श्रीं क्लीं ऊं यं रं लं वं शं षं सं हं हंसः सोहं मम् जीव इह आगच्छ।

ओं आं ह्रीं श्रीं क्लीं ऊं यं रं लं वं शं षं सं हं हंसः सोहं मम् प्राण इहा गच्छ सुख चीरम् तिष्ठान्तु स्वाहा।

(इसे तीन बार मानसिक उच्चारण करना है, हाथ हृदय पर ही रहेगा)

रक्षामंत्र—

"ऊं रां रक्ष प्राच्यं, ऊं रां रक्षा यामयं ऊं रां रक्ष पतिच्यं, ऊं रां रक्ष नैरित्यं ऊं रां रक्ष उर्ध्वावय, ऊं, रां रक्ष अधः।" कर न्यास (अंग रक्षा हेतु)

"ऊं रां रामाय नमः। ऊं रां रक्ष मुरधनी,

ऊं रां भ्रू मध्य, ऊं मामू नमः हृदयायः। यं नमः नाम्यो नं नमः गुह्य मम् नमः पादायः, रां नमः मुर्धनीः रामाय नमः हृदयः, नमो नमः पादयः। रां नमः दक्षिण स्तने, नमो नमः बाम स्तने। रामाय नमः हृदयः।

ॐ रां अगुष्ठाभ्याम् नमः।
रीं तर्जनीभ्याम् नमः।
रुं मध्यमाभ्याम् नमः।
रैं अनामिकाभ्याम् नमः।
रौं कनिष्ठकाभ्याम् नमः।
रः कर्ततल कर पृष्ठाभ्याम् नमः।।
न्यास (हृदयादि न्यास)

रां हृदयाय नमः, रुं शीर्षे स्वाहा, रैं शिखाय वौषट, रौं कवचाय हुम्, रौं नेत्राय वौषट, रं अस्त्राय फट्।

(उपरोक्त कर न्यास हृदयादि न्यास पढ़ते वक्त क्रमशः सब अंगों को स्पर्श करें एवं अंत में पीछे हाथ ले जाकर चुटकी बजाएं तथा अपना त्राटक गुरुमूर्ति पर स्थिर रखें।

उपरोक्त मंत्र ग्रहण करने एवं अनुपालन करने से प्राणायाम शीघ्र ही सिद्ध होता है तथा किसी तरह के खतरे की संभावना अत्यंत क्षीण हो जाती है। इससे सागर्भ प्राणायाम तुरंत फलित होता है। साथ ही मनुष्य बुद्ध, रमण कबीर या साक्षात भगवान शंकर तुल्य हो जाता है।

प्राणायाम

स्थिर आसन पर बैठकर श्वास प्रश्वास की गति को रोकना ही प्राणायाम है। एक खास विधि से श्वास को मूलाधार चक्र तक ले जाना (पूरक) कुछ काल रोकना (कुंभक) तत्पश्चात् बाहर निकालना (रेचक) ही प्राणायाम है। यह खोज अकारण ही नहीं है। बहुत लंबे समय तक किए गए प्रयोगों एवं अनुभवों से ज्ञात हुआ है। इस श्वास-प्रश्वास से बहुत कुछ किया जा सकता है। इस श्वास क्रिया से हम ज्यादा से ज्यादा ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं तथा खास समय तक रोककर जलंधर भी करते हैं। जिससे शरीर के अंदर विजातीय वायु का दहन होता है। जिसके परिणामस्वरूप शरीर से अनेक रोग अपने आप नष्ट हो जाते हैं। शरीर अत्यंत हल्का; मन प्रसन्न हो जाता है। कुण्डलिनी के चारों तरफ का मूल आवरण नष्ट हो जाता है। अतएव यह बहुत ही महत्वपूर्ण ऊर्जा है। हम बिना आंख, हाथ, पैर, जीभ के जी सकते हैं, परंतु बिना श्वास के जीवन असंभव है। ई (यह) स्वर ही ईश्वर है। इसके घात-प्रतिघात से कुण्डलिनी जाग उठती है। ईश्वर के दर्शन मात्र से आदमी का जीवन ही बदल जाता है। गुरु

द्वारा प्रदत्त मंत्र जाप एवं चिंतन देह मन, इंद्रियों और अहंकार को पवित्र कर इन्हें रूपांतरित करते हैं। जिससे श्वास-प्रश्वास संतुलित प्राण समरस, मन शुद्ध और शांत तथा अहंकार विराट केंद्रित या व्यापक हो जाता है। जिससे स्वतः आध्यात्मिक ध्यान सह अजपा दिव्य संगीत पैदा करता है। जिससे आध्यात्मिक मार्ग साफ होता है। सुप्त कुण्डलिनी जाग उठती है। उच्चतर चक्रों की तरफ प्रवाहित होने लगती है।

प्राणायाम विधि

सुषुम्ना नाड़ी को ठीक करना—

साधक पद्मासन पर उत्तर दिशा में बैठकर मंत्रादि का अनुष्ठान कर गुरु का ध्यान करे तत्पश्चात मेरुदण्ड बिलकुल सीधा कर गरदन सीधी करे। मुंह से तोते के चोंच की तरह वायु ले यानी पूरक करे, जिससे पूरक में शब्द भी निकलता है, तत्पश्चात कुंभक कर पेट को तीन बार चलावे, जिससे पेट के अंदर सारे विजातीय वायु का दहन हो एवं सुषुम्ना नाड़ी क्रियान्वित हो सके। तत्पश्चात मुंह से ही रेचक करे। एक बार पूरक कुंभक पर पेट को तीन बार चलावे तत्पश्चात रेचक नाक से करे। यह एक मात्रा होता है। इस तरह तीन मात्रा पहले करे।

इंगला-पिंगला एवं सुषुम्ना का शुद्धिकरण—साधक पंच तत्व से निर्मित शरीर (तत्वों) का शोधन एवं इन नाड़ियों का शुद्धिकरण निम्न बीज मंत्र से करे।

यं—वायु तत्व का प्रतीक है।
रं—अग्नि तत्व का प्रतीक है।
ठं—आकाश तत्व का प्रतीक है।
वं—जल तत्व का प्रतीक है।
लं—पृथ्वी तत्व का प्रतीक है।

साधक सबसे पहले गुरु के निर्देशानुसार इंगला या पिंगला से प्राणायाम शुरू करे। मान लीजिए, साधक के शरीर में कुछ ऐसे रोग हैं जो सूर्य के द्वारा ही शमन होगा या साधक के शरीर में गरम की जरूरत है या ठंडे देश में है तो साधक को मध्यमा एवं अनामिका अंगुली से बाएं नासिका या पिंगला नाड़ी (चंद्र स्वर) को दबा दे तथा सूर्य स्वर यानी दायां अर्थात इंगला से श्वास ले

यानी पूरक करे। पूरक करते समय यं (वायु तत्व) बीज मंत्र जाप 16 बार जाप करने में जो समय लगे उतने ही समय में पूरक की क्रिया पूर्ण कर ले। तत्पश्चात दाहिने ही हाथ के अंगूठे से सूर्य नाड़ी को बंद कर दे। अब 64 बार 'यं' मंत्र का जाप करते हुए कुंभक करे। इस तरह जब कुंभक पूरा हो जाए तब 32 बार 'यं' मंत्र का जाप करते हुए ही चंद्र स्वर यानी पिंगला से रेचक करे यानी वायु निकाले तत्पश्चात पुनःश्च इसी स्वर से ही 16 बार मंत्र का जाप पूरक तथा 64 मंत्र जाप से कुंभक एवं 32 बार में दायां यानी सूर्य स्वर इड़ा से रेचक करे। यह पूरी प्रक्रिया एक मात्रा कहलाती है। इस एक मात्रा से वायु तत्व का शोधन तथा सूर्य नाड़ी का शोधन हो जाता है।

ठीक उसी तरह आप 'रं' बीज मंत्र से सूर्य स्वर (इड़ा) से ही 16 बार में पूरक, 64 बार में कुंभक तथा 32 बार में रेचक एवं पुनःश्च पूरक, कुंभक एवं रेचक कर एक मात्रा पूरा करते हैं इससे अग्नि तत्व एवं चंद्र नाड़ी का शोधन हो जाता है।

अब साधक ठं (आकाश तत्व) बीज मंत्र से 16 बार जाप करते हुए पूरक सूर्य स्वर (इड़ा) से ही करे तथा 64 बार वं (जल तत्व) का जाप करते हुए कुंभक करे एवं 32 बार लं (पृथ्वी) बीज मंत्र का जाप करते हुए चंद्र स्वर (पिंगला) से रेचक करे। इसी तरह पुनःश्च चंद्र स्वर से 'ठं' से 16 बार में पूरक, 64 बार वं से कुंभक, तथा 32 बार 'लं' बीज मंत्र से इड़ा से रेचक करे। इससे आकाश तत्व, जल तत्व, पृथ्वी तत्व का शुद्धीकरण तथा सुषुम्ना नाड़ी का शोधन हो जाता है।

जिस व्यक्ति को शीत संबंधी या पाचन प्रणाली रोग हो वह सूर्य स्वर से ही पूरक प्रारंभ करे। जिसके शरीर में ज्यादा गरमी हो या तुरंत क्रोध आता हो, अपने क्रोध पर नियंत्रण करने में बार-बार असफल होता हो, वह चंद्र स्वर से पूरक कर प्राणायाम आरंभ करे। इससे चमत्कारिक परिवर्तन होगा। आपका क्रोध स्वतः नियंत्रित हो जाएगा। स्वभाव शांत हो जाएगा। कुंभक से शरीर के अंदर की विष युक्त विकार या वासना का क्षय होता है। जिससे शरीर का हर रोम खुल जाता है। पसीना बाहर आता है। रेचक से दूषित वायु के रूप में शारीरिक विकार, मानसिक विकार जिसे हम जन्मों से छिपाकर रखे हैं, बाहर निकलता है। हमारा तन-मन विकार मुक्त होता है। जिससे हम यशस्वी बनते हैं। जो हम श्वास लेते हैं, वह केवल ऑक्सीजन ही नहीं होती बल्कि प्राण होता है। वह वायु प्राण का वाहन है। प्राण को लेकर अंदर जाता है। जिसे अंदर हृदय, फेफड़ा ग्रहण कर लेता है। शेष वायु को अंदर के विकार के साथ वापस

कर देता है। यही प्राण जीवन का आधार है, अमृत है। जिस व्यक्ति में जिस मात्रा में प्राण संचित है, वह उतना ही आध्यात्मिक रूप से समृद्ध होगा। प्राण ही पुण्य है। प्राणवान साधक ही दूसरे में प्राण फूंक सकते हैं। जैसे ही आप नख से शीर्ष तक प्राण से भर जाते हैं। आपकी कुण्डलिनी शक्ति अधः से उर्द्ध की तरफ गमन कर जाती है। आपका शरीर हल्का हो जाएगा। आसन पर बैठते ही आप जमीन से ऊपर उठ जाएंगे। फिर आप रहस्यमय लोक की यात्रा में निकलने के लिए उचित पात्र बन जाएंगे।

सावधानी

साधक प्रत्येक स्वर पर सवार होकर मंत्र के साथ मूलाधार चक्र पर आघात करेगा। जहां कुण्डलिनी सोई हुई है। कल्पना करें कि प्रत्येक श्वास के घात प्रतिघात का आघात सीधे मूलाधार चक्र पर हो रहा है तथा ध्यान मूलाधार चक्र पर ही रहे, जलंधर एवं खेचरी मुद्रा में अवस्थित रहें। जब यह तीन मात्रा पूरा हो जाता है तब साधक 'रं' बीज मंत्र का ही प्रयोग करें। जैसे इड़ा से 'रं' बीज मंत्र का जाप करते हुए 16 बार में पूरक करें एवं 64 बार में कुंभक तथा 32 बार 'रं' जाप करते हुए रेचक करें। इसी तरह पुनःश्च पिंगला से 16 बार में पूरक, 64 बार में कुंभक 32 बार रं बीज मंत्र का जाप करते हुए रेचक करें। यह एक मात्रा हुआ। प्रथम दिन साधक कम से कम 12 मात्रा से प्राणायाम शुरू करें। इस मात्रा में पूर्व का शोधन नहीं आता है। 12 मात्रा पूर्ण होने पर धीरे-धीरे क्रमशः इसे बढ़ाया जाता है। प्रतिदिन एक मात्रा बढ़ा दिया जाए। साधक को 36 से 92 मात्रा तक खींचकर ले जाना चाहिए।

देश, काल एवं परिदृष्ट

देश से देखा हुआ या नापा हुआ यानी पूरक श्वास को अंदर ले जाते वक्त ध्यान श्वास पर तथा मूलाधार चक्र पर श्वास का आघात करना है। कुंभक-श्वास पूरा अंदर भरकर नाभि चक्र में रोककर जलंधर कर स्थित रहना है एवं 'रं' मंत्र का पूर्ववत जाप करते रहना है। प्रत्येक साधक की उन्नति उसकी पात्रता की स्थिति पर निर्भर करती है। यह विकास सीधी रेखा में नहीं होता है। एक उच्चतर केंद्र पर पहुंचने के बाद मार्ग बंद हो जाता है। जिससे साधक की शक्ति दूसरी दिशा में प्रवाहित होने लगती है। पुनः मार्ग पाने के

लिए गुरु के सान्निध्य की आवश्यकता होती है। कभी-कभी साधक बिना उन्नति किए एक ही स्थान पर बहुत दिनों तक घूमता रहता है। इसे ही आत्मा की अंधकार रात्रि (Dark Night of the Soul) कहते हैं। इसे गुरु भक्ति, निष्कर्म ज्ञान के समन्वय से पार किया जा सकता है।

रेचक

श्वास को धीरे-धीरे निकालना है। यह श्वास क्रिया एक खास निश्चित अवधि के अंदर पूरी होनी चाहिए, इसका अनुपात 1:4:2 (16 बार मंत्र जप, 64 तथा 32 बार) सदैव बना रहे। इस तरह पूरक, कुंभक, रेचक के देश काल एवं संख्या के परिमाण से लंबा सूक्ष्म होता चला जाता है। साधक पूरक करते समय श्वास इतना धीरे-धीरे ग्रहण करे कि जरा-सी भी आवाज नहीं करे, जिस तरह चींटी के चलने की आवाज नहीं सुनाई पड़ती है। रेचक भी इतना धीरे-धीरे करे यानी श्वास का त्याग करे कि नासिका के 12 अंगुल आगे जाकर ही समाप्त हो जाए। यदि 12 अंगुल पर श्वास समाप्त होता है तो उसे दीर्घ सूक्ष्म माना जाता है एवं जब साधक श्वास को देख लेता है तथा वह श्वास दो अंगुल यानी ऊपर वाले होंठ तक ही समाप्त हो जाता है तो उस योगी के लिए इस त्रिलोक में कुछ भी असंभव नहीं रहता। उसकी इच्छा मृत्यु होती है। वह योगी ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी बन जाता है। बहुत साधक इसी जगह जन्म भर फंस कर रह जाते हैं। वह दुनिया के सामने चमत्कारी बाबा बन जाते हैं। परंतु यह स्थिति आत्म ज्ञान के लिए अत्यंत बाधक है। अतएव श्वास के पूरक, रेचक पर विशेष ध्यान देना है। कुंभक में साधक जब नाभि प्रदेश में श्वास को रोकता है तब यह मूलाधार चक्र से ऊपर मस्तिष्क तक पहुंच जाता है। अब साधक अंदर के अनंत कला युक्त प्रकाश को देखता है। यह श्वास नाभि प्रदेश में जब स्थिर महसूस हो तब साधक का कुंभक दीर्घ सूक्ष्म समझा जाता है।

इस तरह जब प्राणायाम धीरे-धीरे अधिक समय तक बढ़ता है तथा कम से कम 36 मात्रा तक बढ़ा ले जाते हैं, श्वास-प्रश्वास की गति सम हो जाए तब प्राणायाम दीर्घ सूक्ष्म माना जाता है। साधक जब 92 मात्रा तक निश्चित होकर कर लेता है तब प्राणायाम दीर्घ सूक्ष्म कहलाता है। प्राणायाम के बल से कई स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास एक श्वास बन जाता है। इस तरह 12 श्वास-प्रश्वास एक श्वास बनने लगता है। तब प्राणायाम पूर्णता की तरफ पहुंचा जाना जाता है।

वायु का स्थान एवं मिलन

इस तरह प्राण वायु का निवास स्थान हृदय है तथा अपान वायु का मूलाधार चक्र और समान वायु का नाभि प्रदेश है। पूरक क्रिया में प्राण समान से नीचे आकर अपान से मिल जाता है और रेचक क्रिया में अपान से ऊपर जाकर प्राण से मिल जाता है। योगी जन अपान का प्राण से मिलना ही प्राणायाम कहते हैं। इसका मिलन अपने आप में अत्यंत चमत्कारिक घटना है।

प्राणायाम में बंध का उपयोग

साधक प्राणायाम में आंख बंद कर या गुरु मूर्ति पर त्राटक कर खेचरी मुद्रा करके ही प्रारंभ करे। जैसे ऊपर भी उल्लेख किया जा चुका है। शरीर को तानकर नहीं रखना है बल्कि शरीर बिलकुल सीधा, मेरुदण्ड बिलकुल सीधा रहे। रेचक क्रिया में पेट को पीठ से मिला दे जिसे उड्डीयान बंध कहते हैं। पूरक एवं कुंभक के समय जलंधर बंध लगाकर वायु को अंदर रोकना है। रेचक के समय जलंधर बंध खोल देना चाहिए। ये बंध एवं मुद्रा योगी जन के लिए बहुत ही लाभदायक है। अतएव यह गुरु से सीख ले। यदि साधक उपरोक्त क्रिया के साथ अनाहद पर भी ध्यान दे तो अत्यंत उत्तम है। परंतु अनाहद क्रिया के विषय में गुरु से परामर्श लेना भी न भूलें। क्योंकि साधक एक साथ क्या-क्या करने में समर्थ है, कितनी पात्रता है। यह गुरु ही समझ पाता है। समर्थ शिष्य एक साथ अनाहद, खेचरी, त्रिबंध, अजपा एवं ध्यान पांचों करने में समर्थ होते हैं। साधारण को एक-एक कर साधना ही उचित है। यह कार्य अत्यंत धर्मवग्न एवं नम्र एवं गुरु भक्त के लिए सुलभ है।

प्राणायाम सिद्धि

जब साधक का शरीर प्राणायाम करते-करते अत्यंत हल्का हो जाए। मन प्रसन्न रहे। चित्त वृत्तियां शांत हो जाएं। साधक अपने आसन से प्राणायाम के समय ऊपर उठ जाए तो प्राणायाम सिद्ध माना जाता है। शरीर के अंदर ज्यादा से ज्यादा प्राण ग्रहण किया जाता है। जिससे अन्य विजातीय द्रव्य एवं वायु नष्ट हो जाते हैं। जिससे साधक का शरीर हल्का हो जाता है। पित्त, कफ, वात अपने अनुपात में हो जाता है। जिससे साधक का शरीर स्वस्थ्य एवं निरोग्य

को प्राप्त कर लेता है। साधक प्राणायाम सिद्ध कर लेता है।

इड़ा गंगा पुराप्रोक्ता पिंगला चार्क पुत्रिका।
मध्या सरस्वीता प्रोक्ता सांसांगोऽति दुर्लभः॥

इड़ा गंगा है, पिंगला जमुना है। मध्य में सुषुम्ना सरस्वती है, यही त्रिवेणी संगम है, जिसका स्नान अति दुर्लभ है। यह वाक्य सदाशिव का है। इसमें स्नान मात्र से योगी योग युक्त हो जाता है। जन्मों के पापों से छुटकारा मिल जाता है। इस संगम पर मानसिक स्नान भी किया जाता है। जिससे साधक पाप मुक्त होकर सनातन ब्रह्म में लीन हो जाता है। अतएव यह सब क्रिया भी प्राणायाम काल में ही साधक को सीख लेना श्रेयस्कर है। इसे सद्गुरु कबीर कहते हैं—

"त्रीकुटी संगम झलकत हीरा, चरण चित्त तह रख कबीरा॥"

यहां चित्त स्वतः रुक जाता है। मन इसी प्रदेश में रमण करने लगता है।

सहज स्वभाव तत्व-गुण-धर्म

मानव शरीर पंचतत्वों से बना है। इनकी भागीदारी समझ कर ही इनका ग्रहण और त्याग किया जाता है। ये तत्व हैं—मिट्टी, जल, अग्नि, पवन और आकाश। इनके गुण हैं—गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। यह स्थूलता का क्रम है। सूक्ष्मता में इसे उलट कर शब्द, स्पर्श, रूप, गंध कहते हैं। स्थिति में ये पांचों तत्व होते हैं। जल में चार ही तत्व होते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पानी में गंध नहीं होती है। जल में गंध ऊपर से डालनी पड़ती है। गंध के आते ही पानी पेय या सुवाद्य नहीं रह जाता है। अग्नि में तीन तत्व होते हैं—शब्द, स्पर्श और रूप। अग्नि में रस और गंध का अभाव होता है। गंध के लिए अग्नि में चंदनादि को जलाना पड़ता है। जल से अग्नि बुझ जाती है। गंध या जल को अग्नि जलाकर उड़ा देती है, रखती नहीं है। आग में रस हो तो यह जलेगी नहीं, धुंआएगी। वायु के दो गुण हैं—शब्द और स्पर्श। हवा में रूप, रस, गंध नहीं होते। हवा निर्गुण तत्व है। हवा में रस होगा तो वह हमें कंपाएगी, आग होगी तो वह गरमाएगी। पांचवां तत्व है आकाश। जिसका एक गुण है शब्द। यही शब्द माता के गर्भ में पिता के द्वारा स्थापित किया जाता है। जिसका नाम है—तेज, नाद, बिंदु या प्राण। यही शरीर का शुक्राचार्य है। जो मातृगर्भ में निरत करते उतरता है और प्रकाश, समीर, ताप, जल, अन्न ग्रहण करते शिशु रूप में अवतीर्ण होता है।

साधना करने वाले योगी को फिर इसी क्रम से शब्द तक चढ़ना होता है

इसके लिए स्थूलता को त्यागते सूक्ष्म प्राण में आरोहण करना होता है। अतः क्रमशः अन्नाहार, फलाहार, पयोहार, अग्नि सेवन, वायु आहार करते शब्द गुरु को पकड़ना होता है। यानी अन्न और फल छोड़ने पर गंध पर विजय होती है। जलाहार-पयोहार त्यागने पर स्वाद पर विजय होती है। अग्नि सेवन से कामना पर विजय होती है। वायु-आहार का संयम करने पर मौनी अवस्था आती है और मौन-साधना से शब्द यानी नाम की प्राप्ति होती है। नाम-साधना से आत्म-साक्षात्कार की भूमिका बनती है। इन्हें चाहे आप तप कहें या कृष्ट-साधना कहें, योग-युक्त होने के लिए इनका त्याग आवश्यक होता है। इसे ही काया शोधन कहते हैं। इसके परिणाम की चर्चा थोड़ी देर बाद करते हैं।

पांचों तत्वों के धर्म भी पांच ही हैं। पृथ्वी पर धर्म है स्थिरता। पृथ्वी अपनी कील पर घूमते हुए सूर्य की परिक्रमा करती है। पर इसके पर्वत, नदियां, नगर, स्थान अपनी जगह पर यथावत रहते हैं। कोई चट्टान आप जहां रख देंगे, वर्षों-युगों वह, वहीं पड़ा होगा। लेकिन जल का धर्म स्थान छोड़कर नीचे बहना है। हिमालय की बर्फ पिघलकर समुद्र तक की यात्रा करती है। पानी स्थिर करेंगे तो सड़ जाएगा। या सूख जाएगा। पानी मिट्टी में भी प्रवेश कर जाएगा। वायुमण्डल में भी बादल बन कर उड़ता रहेगा। फिर बरस कर धरती पर आ जाएगा। पर धरती के बिना वह रह नहीं सकता। अग्नि का धर्म है ऊपर उठना। दीप की लौ, आग की लपट आकाश की तरफ ही जाती है। आग दाएं-बाएं नहीं उठती है। अवरोध देने पर भी वह स्वभाव में आ जाती है। आग जमीन छोड़कर भागती है। पानी जमीन पर भागता है। आग आकाश में भागती है। आग का रूप सगुण है, पर उसकी उड़ान निर्गुण में है। आग ऊपर जाकर खोती जाती है, बुझती जाती है, ठंडी हो जाती है। हवा उसकी गरमी को छीन लेती है। हवा आग को जलाती है, हवा आग को पचाती है, या कहें निगलती है।

तीसरा तत्व, आग जमीन छोड़ते ही मर जाती है। क्योंकि आग के जलने के उपकरण जमीन देती है। चौथा तत्व है समीर। वायु धरती छोड़कर दौड़ती है। यह भूमंडल के ऊपर वायुमंडल में दौड़ती है। पर इसकी गति सीमित है—इसकी एकांगी दिशा होती है। पुरवाई चलेगी तो पछैया नहीं चलेगी। आग इसकी गति को नियंत्रित कर सकती है। आग के केंद्र पर चौवाई हवा पहुंचती है और आकाश का धर्म है शब्द, जो एक ही साथ दसों दिशाओं में गमन करता है। पवन की आंधी भी शब्द को रोक नहीं सकती। टी॰ वी॰, रेडियो के शब्द वायुमंडल नहीं पचा सकता। यह शब्द इधर में गति करता है। यह अंतरिक्ष में

कहीं भी गमन करता है और पवन भी गति से शब्द की गति अनंतगुना अधिक है। शब्द से अधिक एकमात्र प्रकाश की गति है। इसी प्रकाश की गति से मन का निर्माण होता है, जिसकी अव्याहत गति होती है।

इनका परस्पर विरोधी धर्म भी देखें—पानी की लहरों या ज्वार को पृथ्वी रोक देती है। क्योंकि जल में तल के बराबर होने की कमजोरी है। भूतल की ऊंचाइयां जल को रोक देती हैं। तब जल की गति भी रुक जाती है। आग की लपटों को पानी बुझा देता है और आग उसे अपनी ओर खींच लेती है या हवा की गति की जन्मदाता आग ही है। आग के ताप के कारण हवा गतिमान है। तापांतर के कारण हवा में वेग होता है। आग पानी को भी जलाकर वाष्प बना देती है और वर्षा को भी जलाकर उड़ा देती है। आग मिट्टी को जलाकर पत्थर बनाती है और लोहे को गलाकर पानी बना देती है। अतः आग को पृथ्वी, पानी, हवा से बलवान माना जाता है। इसी कारण देवताओं में पृथ्वी, वरुण, पवन, कुबेर से अग्नि को श्रेष्ठ माना जाता है। अतः अग्नि की पूजा होती है। पर शब्द आग से भी शक्तिमान है। शब्दों और मंत्रों से अग्नि को न तो आग जला सकती है न सुखा सकती है। यही आग प्रह्लाद को जलाने में हार जाती है। प्रह्लाद ही आत्मा है। यही प्रह्लाद में पोषण पाने वाला तत्व है—यही विभु है।

आग की हवा पर निर्भरता है। हवा न हो तो आग नहीं जलेगी। आग को प्रदीप्त करने के लिए हवा करते हैं—पंखे झूलाते हैं। क्योंकि आग को जलाने का ऑक्सीजन हवा में होता है। आग को जलाने के लिए आकाश चाहिए। दीपक को ढक दें तो दीपक बुझ जाएगा। आकाश ही चारों को आयाम भी देता है, जन्म भी देता है। आकाश से वायु को, वायु से अग्नि को, अग्नि से जल को और जल से पृथ्वी को जन्म मिलता है। ठीक उलटा धरती जल में खो जाती है, जल हवा में शोषित हो जाता है, अग्नि हवा में लौट जाती है, हवा आकाश में लौट जाती है और आकाश सूक्ष्म में सिमट जाता है। शब्द में जाना ही सुरति को ऊपर चढ़ाना है। स्थूलता से सूक्ष्मता में उठने के लिए क्रमशः सूक्ष्म की ओर चलना है। पहले अन्न छोड़े तो गंध पर विजय होगी। फिर जल छोड़े तो गंध और स्वाद पर विजय होगी। फिर अग्निहोत्र करें तो गंध, स्वाद और काम पर विजय होगी। फिर प्राणायाम करें तो प्राण पर विजय होगी। इसी क्रम में शब्द की पकड़ होगी। अतः विहंगम पथ से चलना है। पंछी वायु से भरे आकाश में उड़ते हैं। वायु नहीं होगी तो उड़ना नहीं होगा। वायु को पकड़ कर प्राण का संयम करना होता है। दूसरा उपाय नहीं है।

अन्न से क्रोध को, जल से लोभ को, अग्नि से काम को और वायु से

लालसा को जन्म मिलता है। क्रोध मिटाने के लिए अन्न छोड़ते हैं, लोभ मिटाने के लिए निर्जला रहते हैं, काम नसाने के लिए अग्नि सेवन या अग्निहोत्र करते हैं और विचार से मुक्ति के लिए श्वास का अवरोधन करते हैं। प्राण को अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। प्राण का अवरोध्य वही तत्व करते हैं जो ऊपर उठने की प्रवृत्ति रखते हैं। अग्नि, पवन और आकाश की आराधना से योग की वृत्ति जगती है। शब्द की आराधना बढ़ती है तो स्वतः श्वास की क्रिया का कुंभक होता है और बंकनाल में जलती हुई आग भी मंद पड़ जाती है। यह रहस्य कम को मालूम है कि हमारे मेरुदण्ड को ही संतों ने बंकनाल और संन्यासियों ने त्रिदंड कहा है। बंकनाल की भंगिमा त्रिदिशीय है। अतः सीधी रीढ़ करके बैठने का नियमन किया जाता है कि अग्नि का हवन निर्बाध हो। इस मेरुदण्ड में सफेद अग्नि सतत प्रज्वलित है। इसीलिए जब यह अग्नि बुझने लगती है तो भीतर प्राण संचालन की क्षमता खोने लगती है और श्वास क्रिया अस्वाभाविक होते-होते रुक जाती है। शरीर ठंडा हो जाता है।

शरीर में रमता जीव आकाश रूप है। उस पर आवरण चढ़े हैं। भीतर से क्रमशः वायु के, अग्नि के, जल के और अन्न के। इसे क्रमशः कहें—श्वास, त्रास, प्यास और भूख। इनका संयम किए बिना योग संभव नहीं है। छिति, जल, पावक—तीन सगुण हैं और वायु तथा आकाश निर्गुण हैं। तत्वों की निर्भरता कम करते, न्यून करते निर्गुण में उठना होता है। अग्नि का ईंधन है—अन्न और पानी। इन्हें छोड़ ही नहीं देना, कम करते जाना है। अग्नि का आयाम है—वायु और आकाश। आग ही तेज है जो नाभि केंद्र में स्थित है। नाभी केंद्र कैसे जाग्रत करें, यही हठयोगी कपालभाति करके थककर बैठ जाता है और इसे ही संत सुरति शब्द योग करके जगा लेता है। शब्द के पांच स्थान हैं—मुख, कंठ, हृदय, नाभि और त्रिकुटी। वक्ता मुख से बोलता है। गायक कंठ से गाता है और योगी नाभि से नादानुसंधान करता है। इसे कहकर नहीं समझाया जा सकता, क्रिया करनी करनी पड़ती है। यहां सद्गुरु ही एकमात्र मददगार होता है। समय के सद्गुरु के शरण में जाना ही होगा, उनसे इन्हें ग्रहण कर अपने को बदल लेना ही श्रेष्ठता है। चूक जाना ही अधोगमन करना है। सदैव संसार प्रपंची गुरुओं से भरा रहता है। आपके जन्मों को पुण्य, विवेक समय के सद्गुरु के शरण में पहुंचा ही देता है।

इंसान में पांचों तत्व समानता में होते हैं। छिति, जल, पावक, गगन, समीर में से एक भी गया कि मनुष्य मर जाएगा। अन्न न दें तो इक्कीस दिन तक जीएगा, जल न दें तो चार दिन जीएगा, उसकी आग बुझती जाएगी, वायु

न दें तो शायद कुछ घंटे अभ्यास करके जी ले। अग्नि को जलाए रखने के लिए ही भोजन, हवा, पानी की जरूरत है। ये बंद कर दें, फिर मरने के लिए आपको दूसरा कष्ट नहीं करना पड़ेगा। आकाश तत्व कहीं जाता नहीं है। हम मर जाते हैं तो भी वहीं-का-वहीं रहता है। जैसे समुद्र में, घड़ा में अलग-अलग भरा पानी हो और घड़े फूट जाएं तो पानी वहीं-का-वहीं रह जाता है। वैसे ही आत्मा कहीं जाती नहीं है। उसी में प्राणों का बूंद-बूंद चलता है, फिर शांत हो जाता है। प्राण कहीं नहीं जाता है—आत्मा कहीं नहीं जाती है।

तो मनुष्य में पांच तत्व होते हैं। पर पेड़-पौधों और जानवरों में चार ही तत्व होते हैं। उनमें आकाश तत्व नहीं होता। अतः वे शब्द नहीं करते। वे समझ-बूझ नहीं रखते। आप पेड़ काटेंगे तो वह चिल्लाएगा नहीं। वह मूक है। वैसे ही पशु भी मूक है। भेड़, बकरी, भैंस लोग काटते हैं वे शोर नहीं मचाते। पक्षी में तीन ही तत्व होते हैं। इनमें हवा, पानी और अग्नि होते हैं। पक्षी में पृथ्वी तत्व यानी गंध और आकाश तत्व यानी वाणी-विचार नहीं होते। हवा, पानी, अग्नि तीनों उड़ने वाले तत्व हैं। अतः पक्षी उड़ सकते हैं। आदमी को सूंघिए विविध विचार कर लो कि विविध गंध होती है। संतों के पास बैठिए आप को चंदन, केशर, कस्तूरी की गंध मिलेगी। पशुओं के शोर में भी गंध होती है। पर पक्षी में गंध नहीं होती। रूप होता है, गति होती है, स्पर्श होता है। तीसरे तरह के जीव हैं ये। चौथा जीव है दांत तत्वों वाला, रेंगने वाले कीड़े-मकोड़े। इनमें दो ही तत्व होते हैं—छिति और अग्नि। इनमें आकाश, जल, समीर न्यून होता है और पांचवें तरह के प्राणी हैं साग-सब्जी। इनमें एक ही तत्व प्रधान होता है जल तत्व। सब्जी में 50% जल होता है और 50% में चारों तत्व होते हैं।

लाजिम है कि हमें अपने शरीर की स्थूलता हटानी है, मोटापा हटाना है, स्वाद हटाना है, आसक्ति हटानी है, रूप शक्ति हटानी है और श्वास का सेवन संयमित कर, मौमी बनता है। भूख, प्यास, भास, श्वास का संयम करके ही नादोपासना करें। भर पेट खाएंगे तो नींद आएगी, अधिक पेय लेंगे तो दुःस्वप्न आएंगे। अधिक तेजस पदार्थ लेंगे तो अग्नि ज्वाला बढ़ेगी।

पांचों का कुदरती संबंध देखें—साग-सब्जी को कीट-पतंग खाते हैं। कीट-पतंग को पक्षी खा जाते हैं। पक्षियों को जानवर खा जाते हैं और जानवरों, पक्षियों, कीटों, सब्जियों को मनुष्य खा जाता है और खाता है। भीतर अग्नि धधकने के लिए पांचों प्राणी ईंधन हैं।

प्रकृति पर विजय पानी है तो प्रकृति पर निर्भरता छोड़नी होती है। शरीर का मोटापा, स्थूलता, एक रोग है। अतः दुबला-पतला आदमी अधिक स्वस्थ

एवं निरोग होता है। अधिक जल पीने वाले को बलगम हो जाता है, फलेरिया पकड़ लेता है। अन्न-जल-हवा तो शरीर में रहता नहीं है—अन्न, मल रूप में, जल मूत्र-पसीना रूप में, श्वास-प्रश्वास रूप में निकलता ही रहता है। पांचों तत्वों में जो एनर्जी है उसे ही शरीर ग्रहण करता है। अग्नि लेकर पैदा होता है जीव, आकाश लेकर उदर में आता है। तीन चीजें अन्न, जल, वायु का ईंधन लेता है वह। तो साधक को तीन क़ा संयम करना है और शब्द का साधना करना है जो ध्वनि लेकर जीव मातृ गर्भ में आता है, वही ध्वनि सदा गूंजती रहती है और वही ध्वनि प्राण को प्रेरणा देती है। ध्वनि बंद हो गई तो न तो आग जलेगी, न श्वास चलेगी, न जल होगा, न गंध होगा। आप भी जीवित हैं उस धुन के कारण। उसी में गति है, उसी में बिंदु है। जिसे आदि बिंदु कहा जाता है। तत्वों की आपूर्ति बाहर से बंद कर देना ही तपस्या का रहस्य है।

योगी का शरीर अस्थिपंजर मात्र रह जाता है। भोजन, पानी के बिना जीने का उनका अभ्यास उन्हें तेजस्विता से प्रज्वलित रखता है। वे आकाशवत हो गए होते हैं। आप श्वास लेकर ही जीते हैं तो आपको वायु में जल में गंध मिलते रहते हैं। हवा में पांचों तत्व होते हैं। अतः केवल श्वास का भोजन भी तपस्या योग अन्न, पानी, हवा द्वारा भेंटता रहता है। योगी देवता रूप होता है। वह केवल सुगंध का पान करता है। ऐसा कथन योगियों के लिए ही किया गया है। अन्न, जल छोड़ना ही पड़ता है।

सुनते हैं—हिमालय क्षेत्र में हजारों वर्षों की आयु के योगी आज भी साधनारत हैं। वे केवल प्राणवायु से शरीर की अग्नि जलाए रखते हैं। अन्न, पानी की जरूरत ही नहीं समझते। शरीर को जो भी अभ्यास दिया जाए, यह उसे ही पकड़ने का आदी हो जाता है। भूख को जीतें स्वाद से ऊपर उठें। हवा आप को अन्न, जल पहुंचाती रहेगी। आप हरिगुन गाते रहेंगे। 'आज खाय कल को झंखै ताकै संग गोरख ना रखै।' प्राण क्रियां के द्वारा आप अपने को सिद्ध कर सकते हैं।

शवासन

जब प्राणायाम की यह क्रिया पूरी हो जाए तो साधक गुरु मंत्र का जाप करते हुए आंख खोले एवं गुरु का मानसिक या प्रतिमा का वंदन करे। तत्पश्चात पैर को सीधा फैलाकर धीरे-धीरे आसन पर सीधे चित हो जाए। आंख बंद कर अनुभव करे कि पूरा शरीर प्रकाश से भरा है, तेज से भरा है। हम प्रकाश स्वरूप,

आनंद स्वरूप हैं, चेहरा खिला हुआ, मुस्कुराता हुआ, परमपिता का आशीर्वाद स्वरूप प्रकाश ग्रहण करता हुआ महसूस करें। यह भी कल्पना करें कि जन्मों के पाप कर्म संस्कार बाहर निकल कर भाग रहे हैं। पुण्य रूपी तेज प्रकाश, गुरु कृपा से अंदर आ रहा है। हम आनंद स्वरूप, गुरु स्वरूप हो रहे हैं, शरीर पूरा तेज से भरा है। इस तरह 5 से 10 मिनट लेटे-लेटे कल्पना करें। परमपिता स्वरूप गुरु की मानसिक वंदना करते हुए रेचक एवं पूरक करें। पूरक सीधे मूलाधार चक्र तक जाए, रेचक धीरे-धीरे। पूरक के माध्यम से अनुभव करें कि गुरु कृपा रूप प्रकाश अंदर जा रहा है। शरीर को निर्मल कर रहा है तथा रेचक के द्वारा यह कल्पना करना है कि शरीर से सारा मलावरण पाप, बुरे कर्म निकल रहे हैं। इस क्रिया को करने के पश्चात अपने में पूर्ण तेज एवं प्रकाश से भरा, आनंद से भरा महसूस करते हुए धीरे-धीरे प्रसन्नचित्त आंखे खोलें। गुरु को प्रणाम कर धीरे-धीरे बैठ जाएं तत्पश्चात् खड़े हो जाएं। इससे शारीरिक क्रियाएं ठीक हो जाती हैं। वायु रोग एवं खांसी वगैरह दूर हो जाती हैं। साधक का चित्त प्रसन्न रहता है। यह एक प्राणायाम पूरा हुआ। आपके साधक काल का अधिकांश समय कुण्डलिनी के जागरण में लग जाता है। अर्थात पचास प्रतिशत समय मूलाधार में ही लग जाएगा। जैसे-जैसे कुण्डलिनी ऊपर की मात्रा करती है। समय उसी अनुपात में कम होने लगता है। अतएव साधक संसार चक्र को छोड़कर अपने संपूर्ण श्रद्धाहीन एवं तार्किक के लिए असंभव है। शक्ति को धैर्य पूर्वक कुण्डलिनी जागरण में लगाना चाहिए। इसके बाद आगे का कार्य आसान हो जाएगा।

साधक शुरू-शुरू में समय निकाल कर सुबह, दोपहर, शाम और अर्द्धरात्रि यानी 12 बजे रात्रि को करे। चार बार तीन-तीन घंटे तक प्राणायाम करे। इस बीच बोले बहुत कम। यदि संभव हो तो हां या ना में काम चलावे। भोजन हल्का, सुपाच्य, साग फल से युक्त करे। दूध का सेवन अवश्य करे। हर समय सत् में मन को केंद्रित रखे। यदि साधक मात्र 21 दिन अपने आपको इस प्राणायाम एवं ध्यान पर लगा दे एवं गुरु कृपा साथ हो तो उसकी कुण्डलिनी अवश्य ही जाग्रत हो जाएगी। इसे अन्यथा नहीं मानें। मात्र आप अपने को उपयुक्त पात्र बना लें एवं अपने जीवन को 21 दिन पूर्णरूपेण (तन-मन से) गुरु को सौंप दें। जिस तरह आप अपने को जहाज का टिकट लेकर उस पायलट को सौंपकर निश्चिंत हो जाते हैं, एवं वह चालक चंद समय में आपके गंतव्य तक पहुंचा देता है। उसी तरह गुरु आपकी कुण्डलिनी को जाग्रत कर चक्र भेदन क्रिया शुरू कर देते हैं। यदि कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है तो आगे

की क्रिया आसान हो जाती है। अतएव आप एक बार अपने जीवन को पूर्ण रूपेण दांव पर लगाकर देख लें। सफलता अवश्य ही मिलेगी। अब मोह अवश्य ही दूर होगा। अपने गंतव्य स्थल पर अवश्य ही पहुंचेंगे।

शीघ्र कुण्डलिनी जागरण

यदि गुरु यह महसूस करता है कि अमुक साधक में उपयुक्त पात्रता है। शीघ्र कुण्डलिनी जाग्रत होने पर उसके तेज एवं क्षमता को वहन कर सकता है। तब उसे निम्न विधि बता देना चाहिए।

"तीनों बंध बांध के, अनहद घंटी बजावे।"

प्राणायाम क्रिया शुरू करने के पहले साधक सिद्धासन पर बैठकर मूलबंध बांध ले तब गुरु के आदेशानुसार उड्डियान बंध एवं जलंधर बंध बांधकर दीर्घ श्वास-प्रश्वास ले। यह क्रिया मात्र 5 मिनट से 10 मिनट तक ही करे। इसके बाद नित्य जो भी क्रिया प्राणायाम करना है करे।

तीनों बंध बांधने पर गुरु द्वारा निर्देशित जगह पर ध्यान करने से सहज ही ध्यान केंद्रित हो जाता है, साथ ही विभिन्न प्रकार के वाद्य सुनाई पड़ते हैं। योगीजन आगे इंगित करते हैं—

"नाभि नाशिका माहि करी, अष्ट कमल दल लव लावे।"

इस प्रकार ध्यान कर अनाहद नाद का श्रवण करते हुए योगी एकाग्रचित्त हो कुछ काल इसी विधि को अपनाए तो कुण्डलिनी शीघ्र जाग्रत हो जाती है। हठयोग में कहा गया है कि सिद्धासन के सिद्ध होने मात्र से उन्मुनी कला, बिना परिश्रम के उत्पन्न हो जाती है तथा इसके साथ-साथ मूल बंध, उड्डीयान बंध, जलंधर बंध भी बिना परिश्रम के सिद्ध हो जाते हैं। योगी शीघ्र ही चंद्रमा की कला को प्राप्त हो जाता है।

उत्पद्यते निरामासात्खय मेवोन्मनी कला।
तथैकस्मिन्नेव हठे सिद्धे सिद्धासने सति॥

श्वास : प्राण तत्व

दुर्भाग्य ऐसा रहा है कि पुराणकाल में कुछ साहसी विद्वानों ने काव्य संग्रह और काव्यानुवाद का बीड़ा उठाया। जो विषय वे नहीं जानते थे, उसका भी परिकल्पना मात्र से ऊटपटांग अर्थ लगाकर, गड्डमड्ड किया। विज्ञानपरक तथ्यों को भी प्रत्यक्षानुभूति के अभाव में, भ्रमित कर दिया। पतंजलि के योगदर्शन का भाषानुवाद करने वालों ने तथ्यों की अनजाने में अवहेलना कर दी और उनके पांडित्य ने सिद्धांतों की हत्या ही कर दी।

शरीर के भीतर की सूक्ष्म गतियों के नियंत्रण और नियमन के लिए, पतंजलि ने प्राण-संयम की बात की। पर अनुवादकों ने भ्रांति खड़ी कर दी। श्वास के पूरक, कुंभक और रेचक को, प्राण का पूरक, कुंभक, रेचक अनुवाद किया। यही आध्यात्मिक हत्या हो गई। श्वास और प्राण एक ही बात नहीं है। श्वास प्राण नहीं है। श्वास वायु है—तत्व है और प्राण ऊर्जा है शक्ति है। प्राण का पोषक और प्रेरक श्वास जरूर है। प्राण ही श्वास लेता है। प्राण को श्वास की जरूरत होती है। प्राण की ऊर्जा भीतर पांच क्रिया करती है, जिसे वृत्ति भेद से प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान कहते हैं—ये पांच नहीं हैं—प्राण एक ही है, उसकी वृत्तियां पांच हैं। श्वास प्राण का ईंधन है। प्राण को हम न तो देख सकते हैं, न छू सकते हैं। पर श्वास को महसूस कर सकते हैं, देखते हैं, छूते भी हैं तो अनुवादकों ने श्वास को ही प्राण कह दिया, कभी प्राणवायु कह दिया अपना प्रमाद थोप दिया भाषा पर।

श्वास स्थूल तत्व है। प्राण सूक्ष्म शक्ति है। तो श्वास को प्राण क्यों कहेंगे और श्वास के कुंभक को, प्राण का कुंभक कह दिया। यह परिकल्पना का पैवंद लगाया, व्यास ने भी शंकर ने भी। साक्ष्य हम दिखाते हैं आपको। लेकिन ऐसा अनुवाद कर ये अध्यात्म की संभावना ही चबा गए। गलत पथ निर्देश हो गया। भविष्य भ्रमित हो गया जो सात वर्ष की उम्र में शिक्षक हो गया और तीस में दिवंगत हो गया—उसने अपनी किशोरावस्था में भूल कर दी तो क्षम्य है। वैसे योग और भोग दोनों की उन्हें भ्रांति थी, दोनों विषयों में वे भारती से हार गए थे।

प्राणायाम चित्र को समन्वित करने की वृत्ति है। शरीर की सूक्ष्मतम गहराइयों के अनुभव का मार्ग है। शरीर से मन तक पहुंचने के लिए प्राण तत्व नहीं है, ऊर्जा है। अपना मूलाधार भी अग्नि ऊर्जा है। इसे ही कुल-कुण्डलिनी कहते हैं। अपान वायु नहीं है, प्राण है। वायु-विलोपन अपान नहीं है। वायु विसर्जन भी अपान नहीं है। समान मणिपुर की—रक्त तैयार करने की वृत्ति है। उदान विशुद्ध चक्र भी वाणी की वृत्ति है। व्यान रक्त संचार की प्रजनन वृत्ति है और प्राण अनाहत चक्र की, रक्त शोधन की वृत्ति है। हृदय में प्राण का निवास होता है। प्राण का अर्थ श्वसन नहीं है, प्राण का कार्य श्वसन है। प्राण अपान की गति रोकने का अर्थ, श्वास को रोकना नहीं है। श्वास बाहर निकलती है, प्राण बाहर नहीं निकलता। श्वास भीतर जाती है, अपान भीतर नहीं जाता है। अपान भीतर रहता है। शंकराचार्य ने पूरक को अपान कह दिया और रेचक को प्राण कह दिया। वे कहते हैं कि प्राण ही बाहर आता है। प्राण बाहर आएगा तो हम तो मर ही जाएंगे—प्राणायाम क्या करेंगे ? प्राण का संयम हृदय पर होता है। उसका काम है—अशुद्ध रक्त को शुद्ध श्वास के द्वारा शुद्ध रक्त में बदलना। प्राण नाक से नहीं निकलता, हृदय से निकलता है, पंच प्राण बनकर—क्रियाशीलन के लिए। प्राण शरीर से एक ही बार निकलता है, जिसे आप मृत्यु कहते हैं। जहां हृदय की गति रुक जाती है। शंकर का अनुवाद देखें—

"मुखनासिकाभ्यां वायोः निर्गमनम प्राणस्य गतिः। तद्विपर्ययेण अधोगमनम अपानस्ये। ते प्राणापाने गति गति एति (रुदध्वा) निरुध्य प्राणायामः। तेतपुराः कुंभकारव्यं प्राणायाम कुर्वन्ति इत्यर्थः॥"

—4.29 गीता

हम तो श्वास को भीतर खींचते हैं। पर इनका कहना है कि हम अपान को भीतर से खींचते हैं तो प्राण का अर्थ प्रश्वास हो ही गया। फिर या तो श्वास-प्रश्वास बेकार भरती के शब्द हो गए या प्राण अपान ? कुछ तो संदेह आपको होना चाहिए न। दोनों शब्द पर्याय कैसे हो गए और प्राण के उल्टा अपान क्यों हो गया जबकि प्राण का ही एक नाम अपान भी है। **"वायुः निर्गमनम प्राणः** और **अधोगमनम अपानख्य।"**

वैसे प्राण भी हमारे वश में नहीं है, श्वास भी हमारे वश में नहीं है। मान भी लें कि श्वास वश में है, उसे ठहरा सकते हैं—तो मानना पड़ेगा, भीतर वात विकार रहता है। यानी तब कहना पड़ेगा कि भीतर रक्त नहीं दौड़ता है, हवा ही दौड़ती है ऐसा है क्या ? अभी तक तो इतना विदित था कि प्राण ही रक्त

को दौड़ाता है। देह में वायु नहीं दौड़ती। विंड फार्मेसन को हम लोग गैस्टिक ट्रबल कहते हैं। विंड फार्मेसन से यंत्र की गति रुक जाती है। श्वास ही प्राण है और प्राण ही श्वास है यह अनुवादों में नई बात आई। योग पथ को भ्रष्ट किया गया। श्वास कुंभक करने तक भीतर बचता है क्या ? वायु चाहे प्राण से निकलती हो या नाक से, वह श्वास का कचड़ा है। ऑक्सीजन प्राप्त कर प्राण वायु का त्याग कर देता है। प्राण के कारण शरीर है। श्वास को हम बदल सकते हैं—प्राण को तो नहीं बदल सकते। प्राण को हम महसूस भी नहीं करते हैं। प्राण का निकलना आज तक सुना सबने, देखा किसी ने नहीं—प्राण सूक्ष्म है।

प्राण को रोकने की बात करते हैं शंकर। प्राण को रोकेगा कौन ? प्राण किसके अधीन है। जब मन भी प्राण के अधीन है। प्राण न रहे तो मन भी नहीं रहेगा, श्वास भी नहीं होगी। प्राण अपान की गति को कौन रुद्ध करेगा ? व्यास को बताना चाहिए—मन रोकेगा ? जिसका जन्म ही प्राण का बुदब्रद है। शब्द व्यावसायियों ने बड़ा उलझाव किया—पतंजलि का विचार करें—

श्वास-प्रश्वास योगार्तिविच्छेदः।

—प्राणायामः 50

वाह्याभ्यंतर विषयाश्रेणी चतुर्थः।

—प्राणायामः 51 (चतुर्थ तुरीयम्)

वाह्याभ्यंतर स्तभम् वृतिः देशकालः सांख्याभिः।

—प्राणायामः 49

प्राण शरीर का चालक है। प्राण मन का जनक है। कुंभक स्वभाव है। प्राण की भीतर खपत है। वायु का कुंभक नहीं हो सकता। प्राण का कुंभक होता है। आंतरिक गति है प्राण और यह गति हवा की बदौलत नहीं है। बेहोशी में प्राण मूर्छित होता है, पर श्वास चलती है। कोमा में श्वास चलती है, प्राण निस्पंद रहता है। प्राण पर कोई वश नहीं है। वह निकलने लगे तो आप उसे रोक नहीं सकते। नहीं तो कोई मरता ही क्यों ? प्राण शरीर का हिस्सा है ही नहीं। शरीर का चालक है।

प्रश्न तीन शब्दों पर आता है—विच्छेद, रुद्धवा और कुंभक। शंकर ने रुद्धवा का अर्थ दिया कुंभक। व्यास ने विच्छेद का अर्थ दिया रुद्धवा और विच्छेद का पतंजलि ने अर्थ दिया संयम, नियमन। क्या, ये तीनों शब्दों का एक ही अर्थ है, एक ही अभिप्राय है ? श्वास रोकने से, प्राण खतरे में पड़ता है। प्राण रुकता है तो श्वास रुक जाती है। क्योंकि श्वास प्राण के अधीन है। प्राण

नहीं होगा तो श्वास को कौन आकर्षित करेगा ? श्वास शरीर में जाती, तब तो उसे मृतक में भी रुक जाना चाहिए। श्वास को रोकना कुंभक नहीं है। प्राण का संयम कुंभक नहीं है। श्वास रोकने से होता तो प्राण श्वास को छोड़ता ही नहीं। इधर श्वास को प्राण में बदलने में सेकण्ड भी नहीं लगता है। प्राण कार्बन को नेगलेक्ट कर देता है। उसे ही जबरन आप भीतर रखना चाहें तो प्राण तो ऊबेगा या डूबेगा। व्याख्याकार योगी नहीं था। उसने योग को अनजाने में दफनाया और उसकी बुझी राख हम भी तन पर मल रहे हैं।

वायु और प्राण अलग है। वायु आकाश में है और प्राण शरीर में है—शरीर सेतु है, जिस पर श्वास और प्राण की संगति होती है। कुंभक उतनी ही देर होता है, जितनी देर में प्राण उसके ऑक्सीजन का अवशोषण कर ले। भीतर कार्बन को ठहराने की जरूरत नहीं है। वाचिक ज्ञानियों का सम्मान कर, दो हजार वर्षों से हमने बहुत खोया। बड़ा गुमराह हुए हम। बीच में कबीर एक उपलब्ध ज्ञानी आए। उस युग में तुलसी, रविदास, मीरा, नानक, नामदेव, चरणदास आदि अनेक उपलब्ध संत प्रकट हुए और उन्होंने धर्म के आंतरिक पथ का प्रयोग कर ईश्वरानुभूति प्राप्त की। कबीर ने किसकी खबर नहीं ली। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण की भी खबर ली—उन्हें कोई उपलब्ध नहीं दिखा, सभी वाचक ज्ञानी थे।

इतनी दौड़-धूप क्यों है—आनंद के साधन बदलने के लिए। आनंद ही जीवन का लक्ष्य है। इसे ही ईश्वर कहा गया है। बचपन में माता के स्तन का आनंद होता है—माता से अलग होते बच्चा रोता है। किशोरावस्था संगियों के साथ गिल्ली डंडा का आनंद होता। मां लाख चिल्लाती है बच्चे साथियों के बीच भाग जाते हैं। आनंद का साधन बदल जाता। फिर विद्यालयों में सहपाठियों में पढ़ने का आनंद, फिर विवाह और नारी के काम सुख का आनंद—यही आनंद बाल बच्चों में चला जाता है। आनंद पत्नी से बच्चों और बच्चों से फिर तब वानप्रस्थ का आनंद। तीर्थ यात्रा, कीर्तन, जप, योग का आनंद। धर्म के बाहरी पक्ष का आनंद। सत्संग प्रवचन का आनंद। भीतर का योगानंद अंतिम है। भोगानंद से योगानंद के बीच जीवन झूल रहा है। ईश्वर प्राणिधान अंतिम आनंद है। आंतरिक अध्यात्म का आनंद, अंतर्यात्रा का आनंद, तुरीयावस्था का आनंद। यह कैसा है ? चलकर देख लो। यही जीवन का निमंत्रण है। भीतर का आचरण। श्वास पर प्राण सवारी करता है।

अब प्रसंग का उपसहांर करते हैं। धर्म के आंतरिक पक्ष का अध्यात्म का, अंतर्यात्रा का विधान तीन तरह से सामने आए—

तस्मिन सति श्वास-प्रश्वास योर्गति विच्छेदाः प्राणायामायः।

—पतंजलि/50

प्राणाप्राणौ ग़तिरुद्ध्वा प्राणायाम परायणः।

—व्यास गीता 4/22

तत्पराः कुम्भकारख्यं प्राणायामः।

—शंकराचार्य

तीनों को पढ़कर आप अब या तो पागल होइए या तो तीनों को पढ़ना छोड़कर, किसी जीवित सद्गुरु की शरण में जाइए। आप खुद करके इसे समझ लीजिए, विद्वानों को छोड़िए। योग करना और योग विषयक स्वाध्याय करना दो बातें हैं।

1. गति विच्छेदाः 2. गतिरुद्धवा 3. कुंभकाख्यं—तीनों के तीन अर्थ हुए।

अतः आप समय के सद्गुरु की शरण में आकर अपने को समर्पित कर दें। वे आपको उचित ध्यान मार्ग के माध्यम से गंतव्य तक पहुंचा देंगे। आपका जन्मों जन्म का भटकाव रुक जाएगा। पुरातन विद्वान तथाकथित गुरु भी बहुत बड़ी-बड़ी भ्रमित बातें कह गए हैं। जिन्हें आप पकड़ कर बैठे हैं। जिससे आपका विकास सदियों से अवरुद्ध हो गया है।

प्राणायाम मुख्यतः 8 (आठ) प्रकार के होते हैं। परंतु विभिन्न पुस्तकों में इसकी संख्या इससे भी अधिक बताई गई है। परंतु मैं इससे अति आवश्यक प्राणायाम ही बता रहा हूं जिससे साधक को तुरंत लाभ पहुंचे साथ ही सर्वसाधारण के लिए उपयोगी हो सके। अतएव निम्न प्राणायाम में अपने शरीर, काल एवं स्थान के अनुसार चुनकर करें।

भस्त्रिका प्राणायाम

हालांकि यह भी तीन-चार प्रकार का होता है। किसी में इड़ा के रेचक तो किसी में पिंगला के रेचक इत्यादि। परंतु मेरे अनुभव से निम्न प्राणायाम सबके लिए सब जगह के लिए बहुत ही लाभप्रद है। स्त्री-पुरुष सबको समान रूप से लाभकारी है।

सबसे पहले साधक उपयुक्त हवादार स्थान पर अपनी सुविधा के अनुसार बैठ जाएं। चाहे जिस आसन पर वह आराम से बैठ सकता है बैठ जाएं। गुरु का स्मरण कर लें। यदि मंत्र याद है तो मंत्र का जाप कर लें। आगे कोई मंत्र की खास आवश्यकता नहीं है। इस प्राणायाम के लिए 40 मिनट का समय

चाहिए। अतएव प्रथम चरण में गुरु का स्मरण कर आंख बंद कर लें। श्वास धीरे-धीरे अंदर लें एवं धीरे-धीरे छोड़ें, श्वास पर ध्यान रखें या मूलाधार चक्र पर। श्वास की रफ्तार शनैः शनैः तेज करते जाएं। श्वास की रफ्तार इतनी तेज कर दें कि श्वास के सिवाय कुछ रह ही नहीं जाए। पूरी शक्ति श्वास पर लगा देना है। साथ ही ध्यान रहे श्वास गहरी से गहरी हो। प्रत्येक श्वास का घात-प्रतिघात मूलाधार चक्र पर अवश्य घात करे। जितना गहरा श्वास लेंगे। उतनी ही ऊर्जा की संभावना शीघ्र है, जब आपको मालूम होने लगे कि आप श्वास के सिवाय कुछ है ही नहीं। आप श्वास के यंत्र हो गए हैं। आप साक्षी बनकर श्वास को अवश्य देखते रहें। अब श्वास भीतर जा रहा है, अब श्वास बाहर आ रहा है। पूरी शक्ति के कुंड का दरवाजा टूट सके। जब सारा व्यक्तित्व कांप जाए जहां बैठे हैं मालूम हो जाए आंधी आ गई। भीतर विद्युत का अपूर्व खजाना पड़ा है। जिसे बाहर करना है। अतएव पूरी शक्ति लगा देना है, अपने को पूर्ण दांव पर लगा देना है। बचाना कुछ भी नहीं है। पसीना निकलेगा, निकलने दीजिए। सारे व्यक्तित्व में, सारे वातावरण में श्वास के सिवाय कुछ भी नहीं रह जाए। जैसे हठयोग में कहा गया है—

"यथा लगति हत्कंठे कपालावधि सस्वनय।
वेगेन पूरमेच्चापिहत्यादूनावधि मारुतम्॥
पुनर्विरेचयेन्तदृच्पूरयेच्च पुनः पुनः।
यथैव लोहकारेण भस्त्र वेगेन चाल्यते॥"

इस प्राण का इस प्रकार रेचक करें जैसे वह प्राण शब्द सहित हृदय और कंठ में कपालपर्यंत लगे फिर वेग से हृदय के कमलपर्यंत वायु को बारंबार पूर्ण करें। फिर उसी प्रकार पूर्ण कर और बारंबार इस प्रकार वेग से पूरक रेचक करें जैसे लोहार भस्त्र को चलाता है। इसीलिए इसे भस्त्रिका प्राणायाम कहते हैं। इस क्रिया में भस्त्र के सिवाय अब कुछ रह ही नहीं जाए। यह क्रिया 10 मिनट की है। सारा वातावरण विद्युत तरंगों से भर जाएगा। यदि कुछ आवाज निकल रही है, तो निकलने दें। आप मात्र सारे व्यक्तित्व को दांव पर लगा दें, पीछे के लिए कुछ भी न रखें। जितना गहरा आघात हो सके, पूरा रोआं-रोआं जाग्रत हो जाए, शरीर की तरफ बिलकुल ध्यान नहीं देना है। पूरे शरीर को श्वास ही बना देना है। यह क्रिया 10 मिनट की होगी तब साधक दूसरे चरण में प्रवेश करे।

दूसरा चरण—इस चरण में गहरा श्वास लेते रहें, साथ ही शरीर को ढीला छोड़ दें। शरीर पर ध्यान नहीं देना है। श्वास चालू रखना है। शरीर चाहे जो चाहे करे। रोना आएगा। हंसना आएगा, चिल्लाना भी चाहेगा। गाली भी

दे सकता है। हाथ-पैर नाचना भी चाहेगा, जो भी शारीरिक क्रिया हो, होने दें। अब द्रष्टा बनकर देखें। गहरा श्वास चालू रखें। शरीर सोना चाहे सोने दें। अंदर से शक्ति उठेगी तो शारीरिक क्रियाएं स्वाभाविक हैं। यह क्रिया 10 मिनट की होगी। अब पूरा शरीर विद्युत तरंगों से भर जाएगा। ऊर्जा भीतर से निकलना चाहेगी। अतएव शारीरिक क्रियाएं विभिन्न प्रकार से होंगी। इस 10 मिनट में पूरे ताकत से अपने को लगा देना है। प्रत्येक श्वास मूलाधार चक्र पर आघात लगा रही है। पेट धौंकनी (लुहार की भट्ठी) के समान चलने लगता है। अब साधक को तीसरे चरण में प्रवेश करना है। अतएव पूरे जोर से धक्का देना है। मूलाधार चक्र पर, पीछे के लिए कुछ भी नहीं बचाना है, न ही शरीर के संबंध में सोचना है। जो भी शरीर के स्तर पर हो रहा है होने देना है। श्वास गहराते जाना है।

तीसरा चरण–आज तक साधक बाहर से मंत्र याद कर जाप कर रहा है। रट रहा है। अब तक बाहर से पूछता आ रहा है। मैं कौन हूं (कोऽहम्) ? अब समय आ गया अपने आप से पूछने का। बाहरी सारा ज्ञान बह जाने दें। अब साधक समझे कि 'मैं श्वास के सिवाय कुछ नहीं हूं।' श्वास गहरा जारी रहेगा। अब इन्ही श्वासों के माध्यम से पूछना है 'कोऽहम्' 'कोऽहम्' बार-बार। प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ साधक का प्रश्न भी गहराते जाएगा। ऐसा महसूस हो कि साधक प्रत्येक रोएं-रोएं से पूछ रहा है, 'कोऽहम्' 'कोऽहम्'। यह प्रश्न 10 मिनट तक जारी रहेगा। श्वास मस्तिष्क की तरफ गहरा लेते रहना है। छोड़ते रहना है। प्रश्न पूछते रहना है इस क्रिया में साधक श्वास में प्रश्न 'कोऽहम्' के सिवाय कुछ भी नहीं रह जाए। जब ऐसा मालूम होने लगे कि 'कोऽहम्' ही रह गया है तब उत्तर अपने आप अंदर से आएगा ही। कुछ इंतजार करें। जो उत्तैर आएगा, वही ठीक होगा। आज तक हम शास्त्रों से पूछते रहे हैं, गुरु लोग भी बता रहे हैं प्रवचन के माध्यम से, कथा के माध्यम से। हम भी पुण्यापुण्य के लिए सुनते रहे हैं। याद करते रहे हैं। सो ठीक नहीं है। अब आपका प्रश्न मेरा उत्तर नहीं, आपका ही उत्तर होगा। पूरा जीवन उत्तर से बदला होगा। अब आपके सारे प्रश्न गिर जाएंगे। न आप प्रश्नों में फंसेंगे न ही उत्तर की प्रतीक्षा में, आप श्वास गहरा लेते रहें, प्रश्न पूछते रहें। इस क्रिया में शारीरिक क्रियाएं विभिन्न प्रकार की होंगी, होने दें। जरा भी शरीर की तरफ ध्यान न दें। जब साधक श्वासों एवं कोऽहम् के सिवाय कुछ भी न बचे, यह क्रिया अंतिम चरण पर पहुंच जाए तब आगे के चरण में प्रवेश करना चाहिए या आगे के चरण में प्रवेश करना है।

चौथा चरण—यह चरण भी 10 मिनट का पूर्ण विश्राम का होगा। अब आप पूर्ण विश्राम में हो जाएं, न ही प्रश्न पूछें न ही गहरा श्वास लें। मात्र साक्षी बनकर शरीर को देखें, श्वास को देखें। यह समय वास्तव में प्रतीक्षा का होगा। अंदर से पूछे गए प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा कर पूर्णतया आराम से पड़े रहें, चाहे बैठें, चाहे लेट जाएं, शव की तरह पड़ जाएं। साक्षी की तरह अपने को देखते रहें। साधक जितना गहरे में विश्राम करना चाहे, करे। अपने अंदर साक्षी भाव से प्रवेश करता जाए, निरीक्षण करना है। जैसे दूसरे का शरीर पड़ा है। शांत निःशब्द हो निहारता रहे। स्वेच्छा से श्वास लेते रहें। इस तरह 10 मिनट पूर्ण विश्राम के पश्चात साधक यह कल्पना करे कि मैं ऊर्जा से पूर्ण हूं। आनंद से परिपूर्ण हूं। चारों तरफ आनंद ही आनंद है। आप कल्पना करें श्मशान पर आपका शरीर पड़ा है। आप शरीर से बाहर हैं। साक्षी भाव से शरीर को देख रहे हैं। श्मशान पर बहुत-सी लाशें जल रही हैं। आप शरीर नहीं हैं। आप निर्गुण, निराकार हैं। अब आप करुणावश शरीर में प्रवेश करें। सहस्रार से प्रवेश करें। आपके प्रवेश करते ही शरीर ऊर्जा से भरने लगा है। तेज बढ़ रहा है। धीरे-धीरे वह तेज पूर्ण मस्तक, कान, नाक तक फैल गया। शारीरिक विकार नीचे जा रहा है। वह तेज गरदन, हृदय, नाभि से होते हुए कमर पर फैल गया। अंदर कोमल काम नीचे उतर रहा है। प्रकाश कमर से नीचे जंघा पैर तक फैल गया। शरीर का सारा रोग, दुख, मल पैर की अंगुलियों से निकलकर वायुमंडल में विलीन हो गया। आप पूर्ण स्वस्थ, प्रकाश पूर्ण, आनंद स्वरूप हो गए। नख से शिख तक आनंद से भर गए हैं। गुरु का ध्यान कर कुछ गहरा श्वास लेते हुए उठ जाएं। यदि आंख नहीं खुले तो हाथ से हल्का मल लें। यदि लेट गए तो, उठने में कठिनाई मालूम हो तो दो-चार मिनट लेटे रहें। यह सोचते रहें कि परमपिता परमात्मा हमारे ऊपर ऊर्जा, आनंद, आशीर्वाद स्वरूप उपहार दे रहे हैं। गुरु कृपा हमारे साथ है। इस तरह धीरे-धीरे उठ जाएं, गुरु वंदना करें। नित्य क्रिया के अनुरूप कार्य करें। यदि साधक सुबह शाम भी कम से कम दोनों गोधूल के समय करे तो अत्यंत ही लाभ होगा। शरीर से रोग दूर हो जाएगा। जैसे यकृत संबंधी रोग दूर होकर साधक का चेहरा चमकता हुआ कांति युक्त हो जाएगा। यह प्राणायाम औरत, पुरुष, लड़का, लड़की सबको समान रूप से लाभप्रद है। इसमें किसी भी तरह की हानि की संभावना नहीं है। यदि साधक 24 घंटा से मात्र 2 घंटा 40 मिनट निकालकर चार बार यह प्राणायाम करे, यम-नियम का पालन करे, गुरु कृपा साथ रखे तो साधक निश्चित ही 30 दिन में कुण्डलिनी जाग्रत कर लेगा। यह अक्षरशः सत्य है। इन 30 दिन में मौन

ज्यादा रहे। जितना कम बोलने से काम चल जाए। आप अपना नित्य का कार्य भी करें। उसमें कोई अवरोध नहीं। गरम पदार्थ का त्याग करना ही उचित होगा। बाद में तो आपके नहीं चाहने पर भी छूट जाएगा।

वयुः कृशत्वदं वदने प्रसन्नता नाद स्फुटत्व न घने सुनिर्गल।
अरोगता विदुजयोऽग्निदीपनं नाड़ी, विशुद्धिर्हठ योग लक्षणम्।।

इस प्राणायाम में चतुर्थ भी अपने आप हो जाएगा। इसमें श्वास-प्रश्वास को रोके बिना केवल रेचक पूरा किया जाता है। अतएव इसे अलग से करने एवं समझने की आवश्यकता नहीं है।

सूर्य भेदी कुंभक

सूर्य स्वर (इड़ा) से धीरे-धीरे आवाज युक्त पूरक करना है। वायु इतनी देर तक लेना है कि पूरा शरीर पूर्ण रूपेण वायु से भर जाए। तत्पश्चात कुंभक करें। जब तक वायु रोक सकें। जब साधक को ज्ञात हो कि वायु अब किसी भी हालत में नहीं रुक सकती तब चंद्र स्वर (पिंगला) से धीरे-धीरे रेचक करें। यह एक मात्रा होगा। इस तरह इड़ा से पूरक कुंभक कर पिंगला से रेचक करता रहे। प्रथम दिन कम से कम 12 मात्रा करे। साधक क्रमशः धीरे-धीरे इसकी संख्या काल को बढ़ाते जाएं।

लाभ—यह प्राणायाम 40 वर्ष से ज्यादा आयु वाले लोगों को ज्यादा फायदेमंद है। साथ ही जो ऑफिस वगैरह में मानसिक कार्य करते हैं। समयाभाव है। मानसिक तनाव बढ़ता जा रहा है। उनके लिए अत्यंत लाभदायक है। इससे शरीर में गरमी एवं पित्त की वृद्धि होती है। साथ ही वात-कफ से उत्पन्न प्रत्येक रोग, रक्त दोष, त्वचा दोष, कृमि इत्यादि नष्ट हो जाते हैं। पित्त प्रधान व्यक्ति के लिए लाभदायक है। साथ ही गैस वाले व्यक्ति के लिए भी उत्तम है। पाचन शक्ति बढ़ जाती है। शरीर में नई ऊर्जा का संचार होता है।

शीतली प्राणायाम

यह प्राणायाम भी पांच प्रकार का होता है। परंतु मुख्यतः निम्न है—

साधक पद्मासन या सिद्धासन पर एकदम सीधा बैठ जाए। गुरु का स्मरण कर ले। कौवे की चोंच के सदृश जिह्वा होंठ से बाहर निकाल ले। वायु को धीरे-धीरे पूरक करे। जब सारा शरीर पूर्णरूपेण वायु से भर जाए, तब कुंभक

करे। कुंभक तब तक करे, जब तक वायु बाहर आने को बाध्य न करे। तब वायु धीरे-धीरे अवाज युक्त दोनों नासिका पुट से रेचक करे। यह एक मात्रा होगा। इस तरह साधक पुनः मुंह से पूरक दोनों नाक से रेचक करे एवं प्रत्येक दिन 12 मात्रा से शुरू करे तथा क्रमशः बढ़ाते जावे।

लाभ—यह प्राणायाम स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध को समान रूप से फायदा-कारक है। इसमें हानि की संभावना है ही नहीं। इससे बल एवं सौंदर्य की वृद्धि होती है। पाचन क्रिया बढ़ती है। पित्त रोग, रक्त विकार, पेचिश आदि रोग दूर होता है। टी॰ बी॰ की बीमारी में भी अत्यंत लाभप्रद है। व्यक्ति में ऊर्जा का भी संचालन होता है।

उज्जयी प्राणायाम

साधक इसमें भी सीधे पद्मासन या सिद्धासन पर बैठ जाए। इसमें मंत्र की आवश्यकता नहीं है। पुस्तक पढ़कर भी साधना या प्राणायाम शुरू कर सकते हैं। सीधे बैठें, जिससे रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। मुंह कुछ आगे की लरफ झुका दें तथा दोनों नाक से पूरक करें। साथ ही ध्यान दें कि श्वास वायु धीरे-धीरे अंदर नासिका से होते हुए मुंह में, पुनः हृदय में, पुनः नाभि से होते हुए मूलाधार तक पहुंच रहा है। जब वायु से पूरा शरीर भर जाए, तब तक कुंभक करें, तब धीरे-धीरे रेचक करना उचित होगा। जैसे रेचक में देखे वायु मूलाधार से नाभि, फिर हृदय कंठ होता हुआ मुंह एवं नासिका से धीरे-धीरे बाहर निकले। इस तरह यह एक मात्रा हुआ। साधक प्रथम दिन 12 मात्रा से शुरू करें। अपनी क्षमता एवं समय के अनुसार बढ़ाते जाएं। 24 एवं 36 मात्रा तक अवश्य ले जाएं और ज्यादा जाएं तो और भी अच्छा होगा। इसे दीर्घ भी बनाया जा सकता है। कंठ की मदद से लंबी दीर्घ और हल्की आवाज उत्पन्न करते हैं। केवल पूरक एवं रेचक किया जाता है। जिससे मानसिक शांति मिलती है।

लाभ—कण्ठ रोग, मुंह रोग, फेफड़ा संबंधी रोग, कफ रोग, पेट संबंधी रोग, प्लीहा संबंधी रोग आदि दूर हो जाता है। शरीर स्वस्थ व फुर्तीला होता है। शक्ति का जागरण होता है। कुण्डलिनी जाग्रत होने में भी मदद मिलती है। यह शारीरिक श्रम करने वाले या मानसिक श्रम करने वालों को समान रूप से लाभप्रद है।

इस तरह मैंने कुछ मुख्य प्राणायाम की ही व्याख्या की। प्राणायाम की

महिमा शास्त्रों में बहुत मिलती है। पण्चशिरवाचार्य ने कहा है–

"तपो न परं प्राणायामात् तो विशुद्धिर्मलाना दीप्तिश्च ज्ञानस्य।"

"प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है, उससे मल धुल जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश होता है।"

भगवान मनु भी लिखते हैं–

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

जैसे अग्नि से धौंके हुए स्वर्ण आदि धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार प्राणायाम के करने से इंद्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं।

प्रत्याहार

प्राणायाम के द्वारा जब मन स्थिर हो जाता है। तब प्रत्याहार आता है। प्रत्याहार यानी विषयों से विमुख होना, पीछे हटना। मन बहिर्मुख से अंतर्मुख हो जाता है। इंद्रियां भी अंतर्मुख होकर उसके अनुसार ही अनुकरण करने लगती हैं। मन एक देश में स्थिर हो जाता है। मन की चंचलता रुक जाती है। अमन हो जाता है। चित्त वृत्तियां अंतर्मुख आत्म तत्व की अभिमुख होती हैं, यही प्रत्याहार है।

योग सिद्धि के लिए कुछ आसन एवं मुद्राएं अति आवश्यक हैं। अतएव सबसे पहले कुछ लाभप्रद आसन सीख लें।

आसन–"स्थिर सुखम् आसनम्।"

जिस पर बैठने पर स्थिर और सुखदायी मालूम हो, वह आसन है।

किसी भी आसन की सिद्धि 3 (तीन) घंटे निश्चिंत होकर बैठने से होती है।

पद्मासन–यदि संभव हो तो कोई गद्देदार आसन रख लें। तत्पश्चात निश्चिंत होकर बैठ जाएं, अब दाहिने पैर को बाएं पैर की जंघा पर इस प्रकार रखें कि बाएं पैर को दाहिने पैर के जंघ के मूल पर रखें। सीधे बैठ जाएं जिससे रीढ़ की हड्डी एकदम सीधी रहे। यह प्राणायाम के लिए अत्यंत लाभकारी है। शरीर चुस्त-दुरुस्त सीधा रहता है। स्वास्थ्य लाभ होता है। पाचन शक्ति बढ़ती है। इस आसन पर कम से कम तीन घंटे बैठने का प्रयास करना चाहिए। इस आसन पर उत्तर दिशा में मुंह कर बैठना चाहिए।

सिद्धासन–ठीक उसी तरह के आसन का प्रयोग करें तथा बैठकर बाएं

पैर की एड़ी को ठीक लिंग के नीचे रखें, जिससे की उसका तलवा दाएं पैर की जांघ को स्पर्श करे। तत्पश्चात बाएं पैर के अंगूठे एवं तर्जनी को दाएं पैर की जांघ एवं पिंडली में ले जाकर स्थिर करना है। ठीक उसी तरह दाएं पैर के अंगूठे एवं तर्जनी को बाएं जंघा एवं पिंडली के बीच ले लेना है। इस तरह शरीर का सारा भार एड़ी और जीवनी के बीच नस पर ही रखना है। रीढ़ की हड्डी को सीधा करके बैठना है। इस क्रिया से नाड़ी में गरमी महसूस होती है। यह आसन ब्रह्मचर्य रक्षा के लिए अत्यंत जरूरी है। इस पर किया हुआ जाप शीघ्र ही सिद्ध होता है। इसी से इसे सिद्धासन कहते हैं। यह सबको सामान्य रूप से उपयोगी है। स्त्री, पुरुष, लड़का, लड़की सभी इसे कर सकते हैं। कुण्डलिनी जाग्रत करने में भी मदद करता है। ज्यादा देर तक अडोल बैठने के लिए हिप के नीचे गद्देदार तकिया या कुछ भी रख लें। जिससे आप आसानी से बैठ सकते हैं।

वज्रासन–इस आसन के लिए घुटने के बल बैठना पड़ता है। साधक दोनों पैर के तलवे को गुदा के दोनों तरफ पार्श्व भाग में लगाकर सीधा बैठ जाए। दोनों हाथ की मुट्ठी बांधकर दोनों घुटनों पर रखे। बिलकुल सीधे बैठा रहे। यानी कमर, गरदन, सिर सीधा रहे, इस आसन से गैस संबंधी बीमारी दूर होती है। खाने के बाद बैठने से पाचन क्रिया में मदद मिलती है। हाइड्रोसिल को बढ़ने से रोकता है। शरीर स्वस्थ सुंदर रखता है। यह आसन भी सभी के लिए लाभकारी है।

स्वस्तिकासन–पालथी मारकर सीधे बैठ जाएं तब दाएं पैर की सब उंगली को अलग-अलग फैला दें, तत्पश्चात बाएं पैर एवं जंघा के जोड़ने वाले नीचे भाग को दबाएं। इसी प्रकार बाएं पैर को दाएं पैर के नीचे ले जाकर अंगूठे और अंगुलियों की कैंची में दायां पांव और जंघा के जोड़ने वाले नीचे भाग को दबाएं। दाएं पांव की तली बाईं जंघा के साथ लगाएं। अन्य आसनों के सदृश्य सीधे बैठ जाएं। इससे शरीर का रक्त संचार ठीक रहता है। मस्तिष्क शांत रहता है। मन केंद्रित होता है।

प्रयत्न और परिणति

जैसे नीर में क्षीर मिला हो, वैसे ही श्वास में प्राण मिला है। हंस की ही तरह योगी श्वास से प्राण को अलग कर, प्राणायाम करता है। प्राण का मंथन ही प्राणायाम है। घी की तरह जो प्राण अलग होता है, उसे ही नाद कहते हैं। श्वास जड़ होती है, पर प्राण चैतन्य होता है। वह सूर्य से सीधे प्रपंच में उतरता

है। प्राण की पहचान नाद रूप में होती है। श्वास नाक से लेते हैं। प्राण कान से सुनते हैं। समस्त जीव इसी एक जगत प्राण से जीवन पाता है। यही नाद-ब्रह्म-साधना प्रणव कहलाती है।

इस क्रिया में दो प्रयत्न होते हैं—अभ्यंतर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न। जीभ के अग्र, मध्य, पश्च और निस्पंद उत्थान पतन को संवृत, अर्द्धसंवृत, अर्द्धविवृत, विवृत और स्पृश्य से नादोच्चार किया जाता है। इन्हें अभ्यंतर प्रयत्न कहते हैं। बाह्य प्रयत्न ग्यारह होते हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, अघोष, घोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ये (5 +11 = 16) सोलह, सुरसा के मुख के, योजन-विस्तार हैं। इसी में बुद्धि, बल, गति की परीक्षा होती है। सुरसा पर हनुमान की विजय-कथा प्राणायाम का ही रूपक है—जिसे वाल्मीकि पांच-पच्चीस योजन करके गिनाया है। प्राण मंथन की ये सोलह क्रियाएं हैं। सुषुम्ना के भेदन के लिए पूरक-रेचक-कुंभक की श्वास क्रिया है और चक्र भेदन के लिए प्राणों का हवन की क्रिया है। इसे ही गीताकार ने 'अपाने जुह्वति प्राणं' कहा है।

सुषुम्ना से श्वास का पूरक अघोष है और रेचक घोष है। रेचक का प्रयोग ही उलटा नाम जप है। पिंड शरीर के पांचों अधोमुख प्राण-कमलों को ऊर्ध्वमुख करना ही उलटा नाम है। प्राण शरीर में, 33 के संबंध में होते हैं, वे ही ब्रह्मांड शरीर के समानांतर 66 के रिलेशन में आते हैं—इसी उलटे प्रयत्न को चक्र भेदन कहते हैं। उदान से नीचे जो व्यवस्था है—उदान, प्राण, समान, अपान और व्यान की, वही उलट जाती है और वे ही ब्रह्मांड शरीर में क्रमशः सहस्त्रार, त्रिकुटी, सून्न, महासून्न और ब्रह्मांध्र के देवताओं के स्थानापन्न हो जाते हैं। जो प्रणव गणेश चक्र पर प्रणव कहलाता है वही ब्रह्मरंध में ओंकार या स्वरित कहलाता है। नाड़ी शोधन में विवार से संवार में आना ही श्वास में नाद यानी प्राण की खोज कहलाता है। संपूर्ण श्वास क्रिया विवार और संपूर्ण संवार, प्राण-क्रिया कहलाता है। नाद का आराधन ओंकार का नवनीत मंथन ही है। यह मंथन गुरु के बिना अनंत जन्मों में नहीं होगा।

श्वास क्रिया में जो कुंभक करते हैं, वही संवार में आठ प्रकार का कुंभक हो जाता है—सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा, केवली (काकली) ये आठों प्राणायाम के बाह्य प्रयत्नों की गतियां हैं। श्वास के शिथिल उच्चार को ही विवार कहते हैं। जैसे—दीपक बुझाने के लिए, फूंक मारना और उसका घोष होता है जैसे—आग सुलगाने के लिए दीर्घ रेचक करना। पूरक का 'सों' अघोष है, रेचक का 'ऽहम' घोष है। श्वास में ध्वनि सुनाई पड़ना अघोष

है, जो सुषुम्ना खुलने का प्रमाण है। रेचक में वृषभ के हुंकार जैसी ध्वनि घोष है। नींद में श्वास की अघोष-घोष ध्वनि सहज होती है। यानी सोए हुए में सुषुम्ना का ही श्वसन होता है। सोऽहम के विवार में नाद नहीं होता। उसमें नाद फूटना ही प्रणव है—यही श्वास से प्राण को अलग करना है। पूरक, रेचक, कुंभक—इतना ही प्राणायाम नहीं है—ये तो प्राणायाम की पीठिका है।

श्वास को पकड़ कर सुषुम्ना में प्रवेश नहीं होता है। श्वास में जो ध्वनि होती है उसे पकड़ते हैं। ध्वनि का जन्म सुषुम्ना में होता है। इंगला, पिंगला में ध्वनि नहीं होती है। फिर ध्वनि से नाद को अलग करते हैं। श्वास से प्राणायाम का सीधा संबंध नहीं है, श्वास से ध्वनि, ध्वनि से नाद और नाद का प्राणायाम होता है।

श्वास से प्राण को अलग निकालने का नाम ही नाद है। श्वास में ध्वनि होती है, प्राण में नाद होता है। श्वास का संबंध नाक से है। प्राण का संबंध नाभि से है। प्राण का संस्थान नाभि है, उसके स्थान क्रमशः गणेश चक्र, ब्रह्मा चक्र, विष्णु चक्र, महेश चक्र और पार्वती चक्र हैं। जहां के प्राण को क्रमशः अपान, व्यान, समान, प्राण और उदान कहते हैं। इनके नाद हैं क्रमशः सा, रे, ग, म, प और इसके मंत्र हैं क्रमशः लं, वं रंरं, और ऽहमं। इन्हीं की टकराहट, यानी हवन से श्रुति, स्वर और राग का जन्म होता है—ये तीनों ही नाद यानी प्रणव के नवनीत हैं। मुख बंद कर नादोच्चार से 'अ' मुख खोलने से 'उ' और मुख बंद करने से 'म'—यानी "ओ३म्" का चक्र बनता है। ओ३म् नाद भी है, प्राण भी है। नाद तरल गति है और प्राण आग है। मूलाधार पर इसे ही प्रणव कहते हैं—इसका ध्वनन कठिन पड़ता है। इस प्रणव की ऊंचाइयां 220 नादों की हैं। जिसकी 22 श्रुतियां और 92 स्वर बनते हैं। ओंकार का निम्नतम अघोष प्रणव है और उच्चतम घोष स्वरित है। नाद नाभि की पहली ध्वनि है और स्वरित कंठ की अंतिम ध्वनि है। इसी नाद-प्रणव स्वरित के बीच, सुरति-निरति का क्रीड़न चलता है। इसको गति और श्रुति क्रिया से पाते हैं। लय और वेग बढ़ा कर इसकी व्यवस्था करते हैं। पलटा, गमक, मूर्च्छना, तान, तराना से उसे ऊपर उठाते चलते हैं। ताकि सातों स्वरों का, एक स्वर षड्ज में, समाहार हो जाए—इसी को गमगति कहते हैं। श्वास में जिसे गमगति कहते हैं, नाद में उसे ही सामगति कहते हैं—दोनों ही शब्द योग मार्ग के पारिभाषिक शब्द हैं। 'स्वरित' नाम और 'ओंकार' ही सत् चित्त आनंद हैं। एक प्राण के ये तीन विरद हैं।

ब्रह्मांड शरीर में ये प्रधान प्राण ही उप-प्रधान प्राण कहलाते हैं। नाग, कूर्म,

कृकिल, देवदत्त और धनंजय। ये मानसिक ऊर्ध्व चक्रों के प्राण हैं। पूरी देह में 48 प्रकार के प्राण पवन कार्य करते हैं। जिनके स्पंदन, प्राण, वेग गति और द्रुतगति के क्रमशः 20 + 10 + 9 + 2 + 4 + 3 = 48 वितरण हैं। इनके नाम अध्याहार में दिया जाएगा। प्राण में अपान तथा अपान में प्राणों के हवन की विधियां मनोरंजक हैं। पांचों चक्रों के पांचों देवता परस्पर चक्रों से, परस्पर हवन क्रिया, बैठे-बैठे शुरू करते हैं। फिर वेग बढ़ाते चलते हैं, पुनः गति बढ़ाते जाते हैं—फिर तो निरति प्रारंभ हो जाती है—शाश्वत शब्द 'नाम' को जाग्रत करने में प्राणों के भीतर आंधी उठानी पड़ती है—भस्त्रिका उसका चूणांत प्रयोग है। प्राणायाम बड़ा मूल्य मांगता है। नाम की खोज, ब्रह्म में अनुगुंजित निनाद की तलाश है। नाम की प्राप्ति से ही द्विज पद मिलता है। नाम की पकड़ मन को मुट्ठी में लेना कहा जाता है। प्राण का ही स्थूल रूप है मन। मन स्थूल है। जो प्राण पिंड शरीर में मन कहलाता है, वही प्राण ब्रह्मांड शरीर में आत्मा कहा जाता है। इसी कारण मन को परमात्मा का प्रतिनिधि कहा जाता है। प्राण का सूक्ष्मतम नाद है 'नाम' जो आत्मदर्शन कहलाता है—आत्मदर्शन आंख का विषय नहीं है कान का विषय है—इसे ही चक्षुश्रुवा यानी कुंडलिनी सर्प का रूपक दिया गया है। उनचास पवन एक ही प्राण की गतियां हैं।

पांचों कुंडों के देवता, पहले अपने-अपने कुंडों से हवन करते हैं, फिर एक दूसरे के कुंडों से सर्कुलर वृत्ताकार हवन्न करने लगते हैं। वेग और गति बढ़ाते हुए उसे शून्य से महासुन्न गति वेग में ले चलते हैं—पहले बैठे-बैठे, फिर खड़े होकर और अंत में दौड़-दौड़ कर आहुति डालने लगते हैं। जिन प्राणों के संघात से मधुर राग फूटने लगते हैं। इसी द्रुतगमिता को निरति कहते हैं। 'सुरति-निरति का ताना भरनी, सुषमन तार से बिनी चदरिया—कोई ओढ़े संत सुजान, निर्गुन रंग चदरिया।" सुरति-निरति प्राणों का ही नर्तन है। सारे जगत का प्राण एक है—पूरा सृष्टि चक्र ही महाप्राणायाम है। प्राणायाम पिंड में उसी का अभिनय है—इसी से मुक्ति को महाप्राणायाम कहते हैं जो परिनिर्वाण भी कहा जाता है। परिनिर्वाण का अर्थ है अनंत। जलते दीपों की कतार में एक और दीप जल गया, बुद्ध, महावीर, राम-कृष्ण का। जगत में जो प्राण कहलाता है, वही पिंड में जीव कहा जाता है, पिंजड़े का पंछी।

प्राणायाम से चक्र भेदन होता है और चक्र नाक में नहीं हैं। कुंडलिनी को मूलाधार से उठ कर सहस्रार में संभोग करना, मैथुन कहा गया, आगमों में। पिंड-ब्रह्मांड शरीर के कमल 36 की स्थिति में है, उन्हें 66 की स्थिति में लाना ही साधना है। इसे ही उलटा जाप कहते हैं—33 की स्थिति में संपुटित कुंज,

66 की स्थिति में प्रस्फुटित हो गए। उनकी पंखुड़ियां नीचे गिरी थीं, ऊपर उठ गईं। उलट गईं दोनों नयन पुतरियां। स्थूल दृष्टि और सूक्ष्म दृष्टि एक दिशा में बहने लगी। पिंड शरीर में जो देवता बाधक थे वे ब्रह्मांड शरीर में हाथ जोड़कर कैदी की तरह खड़े हो जाते हैं। पंडितों ने भ्रम दिया है कि इस प्राणायाम को लोग भूल गए हैं। बीज कभी मरता नहीं है। हमारे भीतर नैमित्तिक प्राणायाम अनजाने चलता है—भीतर के देवता निश्चेष्ट नहीं बैठते हैं, फिर शरीर का विकास होगा कैसे ? उनकी मैत्री को प्राणायामी प्रगाढ़ करता है। सभी संत उपलब्ध प्राणायामी थे। सभी सिंह वागेयकार थे। यही प्राण का संगीत वृंदावन की बंशी की धुन है—'धुन सुन के मनवा मगन हुआ जी हो।'

नाद ब्रह्म और प्राण-सागर का मंथन

शरीर में प्राण-सागर लहरा रहा है। वायु के दबाव से जैसे सागर में हलचल होती है, वैसे ही श्वास के कारण प्राण-सागर में भी तरंगें उठती हैं, हलकंपन होते हैं। रक्त के शुद्धिकरण एवं संचरण से प्राण में गति पैदा होती है। गति के कारण प्राण में नाद फूटता है। इस नाद को ही विबार, संवार, अघोष, घोष, अल्प प्राण, महाप्राण, अनुदात्त, उदात्त, स्वरित क्रम से क्रमशः मूल से ब्रह्मरंध्र तक चढ़ाइयों की प्राणायाम की संज्ञा दी जाती है। शरीर में श्वास वायु तत्व है, रक्त जल तत्व है, नाद आकाश तत्व है, गति अग्नि तत्व है और सुषम्ना का मार्ग ही पृथ्वी तत्व है। श्वास जड़ है और प्राण तो चैतन्य है। रक्त का स्वभाव अधोगामी है पर अग्नि के ताप से रक्त भी ऊर्ध्वगामी होता है और वह अग्नि जलती है अपान वायु के गणेश चक्र पर। इसे मूलाधार चक्र भी कहते हैं। यही जीवनधार केंद्र है—रक्त में जो कंपन होता है, उससे नाद निखरता है प्राण को उर्ध्व चक्रों तक उठाने के क्रियाशील कई नाम हैं, प्राणायाम, प्राण को ऊपर उठाता है नाद, यह नाद आकाश तत्व है, आकाश को शब्द भी कहते हैं। नाद को शब्द ब्रह्म भी कहते हैं। अध्यात्म में इसे ही 'नाम' या 'सारशब्द' कहा गया है। प्राण में नाद की छोटी-बड़ी, नीची-ऊंची लहरियां उठाकर अभीष्ट परिणाम पाना ही प्राणायाम का लक्ष्य है। संपूर्ण जगत इसी नाद के अधीन है—जगत से अर्थ है समस्त इंद्रिय लोक का। इन्हीं लोकों में सामंजस्य पैदा करना प्राणायाम कहलाता है। यह प्राकृतिक क्रिया है, इसे नैसर्गिक अभ्यास भी कहते हैं। शरीर के अंदर बैठे सभी देवता संयुक्त रूप से प्राणायाम का हवन कार्य कर रहे हैं।

प्राणायाम को वायु तत्व प्रेरित करता है। जिससे जल तत्व रक्त तरंगित होता है। उसमें आकाश तत्व प्रतिध्वनित होता है, जो नाद कहलाता है। नाद ही गगन की ओर उठता है। हवा की गति से रक्त नहीं चलता है, प्राण की गति से रक्त में वेग आता है, जो विभिन्न स्तर की गतियों को जन्म देता है। रक्त में गति के कारण नाद उभरता है। यही प्राण-सुरति को ऊपर उठाता है। सुरति प्राण और मन की एक स्वरता का नाम है। जब तक मन हवा में तैरता है, इंद्रियों की गुलामी करता है। ज्यों ही मन प्राण पर सवार होता है, वह अतेंद्रिय लोक में पलायन करता है। इसी यात्रा को पिंड शरीर से ब्रह्मांड शरीर की यात्रा का चक्र भेदन कहा जाता है। सुरति सुषुम्ना में समाती है और मन प्राणों के मंथन में रम जाता है। श्वास अपना प्रभार हृदय को देता है, हृदय अपना प्रभार रक्त को देता है, रक्त अपना प्रभार प्राण को देता है और प्राण अपना प्रभार मन को देता है। मन मस्तिष्क लोक का माली है। शरीर के अंदर पंचतत्वों का गजब का मैत्री-भाव है। प्राणों का संगीत ही प्राणायाम है। सात चक्रों के सातों स्वर जब एक ही स्वर षडज में निनादित होने लगते हैं तो साम संगीत छिड़ जाता है जो कृष्ण का वेणु-वादन कहा गया है।

बांसुरी में सुर भरते हैं, वह बजती है। पर उसमें से राग निकालने के लिए उसके सातों छिद्रों पर उंगलियों को व्यवस्था से नचाना होता है। उसी प्रकार नाड़ी-शोधन से सुषुम्ना का मुख खुलता है और मूल सुषुम्ना के सातों चक्रों से सातों स्वर गूंजने लगते हैं, जो मेरुदण्ड के विशिष्ट गाटियों पर चक्र रूप में निःसृत होते हैं—नाद-निनाद का अभ्यास किया जाता है। जिसे अपान में प्राण को हवन या प्राण और अपान में प्राणों का परस्पर हवन यानी आह्वान कहा जाता है। प्राणायाम ध्वनि-विज्ञान है। प्राण के प्रवाह को नियंत्रित कर उनमें विशिष्ट क्रियाशीलनों द्वारा, अभीष्ट परिणाम पैदा करना ही प्राणायाम है। पिंड शरीर के औंधे कमलों को ऊर्ध्वमुख पर ब्रह्मांड शरीर के चरखों के सम्मुख एकरसता में लाना, अवरोह पथ के प्राण को आरोह पथ पर लगाना, उद्देश्य है।

केवल श्वास की साधना प्राणायाम नहीं है। यानी पूरक, रेचक, कुंभक तो नाड़ी शोधन हैं। इसका उद्देश्य सुषुम्ना की राह खोलना मात्र है—यह भी कठिन काम है। जानकार गुरु हों तो यह काम मिनटों में हो जाता है। अनाड़ी तो जीवन भर नाक ही मलते रह जाते हैं, उनका प्राणायाम शुरू ही नहीं होता है। जीवन भर वे दरवाजा खोलने में ही उलझे रहते हैं। बहुत योगी महीनों बिना श्वास लिए कृत्रिम समाधि लेते हैं। प्राणायामी घंटों श्वास रोककर प्राणायाम करते हैं। तो साफ हो गया कि श्वास क्रिया का प्राणायाम से कोई ठेका ठेकी

भी नहीं है। द्वार खुल गया आप भीतर गए, फिर अपने काम कर रहे हैं—अब बार-बार दरवाजा खोलने का अर्थ ही नहीं रहा। श्वास चैतन्य नहीं है। प्राण चैतन्य है। श्वास से अधिक चैतन्य रक्त है। रक्त निकलने पर प्राण निकल जाते हैं, प्राण को ठहराने के लिए रक्त चढ़ाया जाता है। न श्वास क्रिया है, न रक्त संचार क्रिया है, पर प्राणायाम क्रिया है—वे दोनों स्वभाव हैं।

प्राणायाम क्रिया जटिल है। नाद को उसकी ऊंचाइयों तक यानी हद से अनहद और बेहद तक विविध स्तर और भंगिमाओं में ऊपर उठाते हैं। जिसे संतों ने गमगति या सामगति कहा है। आलाप्ति गमक, मूर्छना के अनेक तल और तरीके हैं। जैसे मुरली के स्वर व्यवस्था में राग बनते हैं, उसी प्रकार रक्त में गति देकर नाद को ऊपर उठाते हैं। गति से नाद का जन्म होता है। प्राण की गति बढ़ाकर स्वर को अनुदात्त से स्वरित तक उठाते हैं। श्वास, रक्त प्रवाह और नाद तो जानवर में भी होते हैं—पर प्राणायाम केवल मनुष्य ही कर सकता है। यह योग की कुंजी है। सातों चक्रों के सात धृत कंपन हैं जो सात स्वर कहलाते हैं। इनमें मैत्री स्थापित करना प्राणायाम कहलाता है। यही प्राण का प्राणों में हवन कहलाता है। प्राण की पहचान नाद से होती है। प्राण कान का विषय है श्रुति स्वर व्यवस्था है प्राणायाम। प्राणायाम किया जाता है पर क्रिया सुनना कहा जाता है। नाम सुनते हैं। इसके लिए पहले प्राण को श्वास से अलग करना सीखना पड़ता है। जैसे हंस नीर से क्षीर को बाहर निकालना जानता है। वैसे ही प्राणायामी प्राण को श्वास में भिन्न प्रतीति करके ही क्रिया योग करता है। श्वास जड़ है जबकि प्राण चैतन्य है। प्राण ही तो श्वास को खींचता है। प्राण ही राग का रूप लेता है। राग, अनुराग, विराग, वित्तराग—ये प्राणायाम की ही व्यवस्थाएं हैं—राग का अर्थ वासना नहीं है। एक मधुरतम स्वर व्यवस्था जो चित्त को रंग दे, राग कहलाती है। जब भीतर के शाश्वत शब्द यानी नाम को प्राणायामी पकड़ने लगता है, तब प्राण की ध्वनि और सारशब्द एक स्वरता में आ जाते हैं, उसी समरसता में सुरति-निरति भी विरति में आकर ठहर जाती है। जहां प्राणायाम खो जाता है नाम में—इसी साम्य को अविचल समाधि कहते हैं। जहां सातों स्वर एक स्वर में तिरोहित उद्बुद्ध होने लगते हैं वही विचित्र भाव दशा का लोक है, सच खंड। प्राण चैतन्य को जड़ श्वास कैसे नियंत्रण करेगी। जब प्राण श्वास को खींचता है। श्वसन प्राणायाम का एक हेतु है, प्राणायाम नहीं है, जैसे लगाम रथ नहीं है। श्वास प्राण नहीं है। तो श्वास के अटन को प्राणायाम क्यों कहेंगे ? जिन्हें श्वास और प्राण में भेद मालूम नहीं, जो श्वास से प्राण को अलग करना नहीं जानते, उन्हीं वाचक ज्ञानियों ने

नाड़ी-शोधन को प्राणायाम नामजद कर दिया। मानवता का अकस्मान ही किया। प्राण संवेदन और प्राण-नियंत्रण के बिना ओरी का पानी बड़ेरी ही कैसे चढ़ेगा ? गणेश चक्र का अपान ब्रह्मरंध्र तक यात्रा कैसे करेगा ? यही उलटा जाप है तो पंडितों में निर्लज्ज की तरह कह दिया—'मरा-मरा' उलटा नाम है और भैया वर्णिक ध्वनि, भाषा का कोई शब्द है नाम क्या जो जीभ पर आता भी नहीं है। नाम का उच्चारण भी नहीं है और तू 'मरा-मरा' रटवाने लगा ? अष्ट दल कमल और दस द्वारों का भेदन है प्राणायाम।

प्राण ही मानसिक शक्ति के रूप में प्रकाशित होता है। प्राण क्रिया से योगी की कांति बढ़ती है, उसका कंठ मधुर होता जाता है। सूक्ष्म शक्तियों का प्रवाह दीखता है, आंतरिक चक्रों में संवाद बढ़ जाता है। मन के परदे खुलने लगते हैं। आकाश-भाषित पकड़ में आने लगता है, ऋषि-मुनियों, पितरों के दर्शन आते हैं। सिद्धियां हस्तमूलक होती हैं। भीतर शक्ति का स्पंदन, वेग, गति, यति, रति बढ़ती है। इसी 'नाम' से हमारी चदरिया बनी है। नाद-ब्रह्म से ही सृष्टि प्रकाश में आई है। नाद ब्रह्म की आराधना ही प्राणायाम है। शब्द आकाश में योगी तैरता है। प्राणायाम अंतर के आकाश में पारगमन है। विहंगम मार्ग है।

प्राण से ओंकार ध्वनि

श्वास की परख स्पर्श संवेदना है। श्वास का जन्म वायु तत्व से होता है। पर प्राण की परख शब्द संवेदना से करते हैं। प्राण आकाश तत्व से बनता है। इसीलिए नब्ज पकड़कर या आला लगाकर ब्लड प्रेशर की पड़ताल की जाती है। प्राण की परख उस गति से करते हैं जो छत कंपन रूप में नसों में होती है। यानी प्राण का अनुभव सुनकर किया जाता है। तब तो प्राणायाम कान का विषय हो गया, जबकि श्वास नाक का विषय है। प्राण जीभ से नहीं, कान से श्रवण किया जाता है। जब कान का विषय है प्राण तो उसका संबंध ध्वनि से होगा, नाक से सुनते नहीं, सूंघते हैं। प्राणायाम नादानुसंधान है। इसे ही शब्द साधना या सुरति शब्द योग कहते हैं।

हम प्रणव करते हैं। यह प्राण का रव होता है। प्राण ही गाता है, नाक नहीं गाती, कंठ भी नहीं गाता, कंठ केवल बोलता है। पर गाता है प्राण। प्रणव तो ध्वनि तरंग है। शब्द का योग है स्वर और स्वर का प्रयोग है संगीत अतः प्राणायामी स्वर की अनुगूंज से अपने को जोड़ता है। सभी मंत्र ध्वनित तरंगें

हैं। मंत्र में वर्ण नहीं, स्फोट होता है। तरंगें कैसे उठाएं, यही सीखा जाता है प्राणायाम में। इन्हीं ध्वनि तरंगों से चेतना अंतर्मुखी होती है। नाद तरंग है, प्राण स्पंदन है। लहर और कण समझें।

प्राण में मंत्र डालना नहीं पड़ता। प्राण में मंत्र फूटते हैं। भीतर से ही फूटते हैं। प्रायः लोग श्वास क्रिया को ही प्राणायाम जानकर घंटों नाक रगड़ते हैं। पर यह भूल जाते हैं कि श्वास नियंत्रण तो नाड़ी-शोधन है। यह प्राणायाम की पीठिका है—हजारों वर्षों से एक ही झूठ को दुहराया जा रहा है कि नाड़ी-शोधन ही प्राणायाम है, जो जानकार हैं वे मौन हैं।

प्राणयाम से हमारे अतीद्रिंय शरीर में संतुलन आता है। श्वास तो प्राण की दादी है। श्वास से रक्त, फिर रक्त से प्राण बनता है। ध्यान के दो रूप हैं—श्वास क्रिया और प्राण क्रिया। वैसे प्राण ही क्रिया है—श्वास क्रिया नहीं है स्वभाव है। आप चाहें या न चाहें श्वास चलती है, वह हमारे वश में नहीं है। पर प्राणायाम हमारे वश में है, करें या न करें। प्राणायाम आंतरिक स्वभाव है। प्राण हमारे वश में नहीं है। प्राणायाम हमारे वश में है। आप प्राणायाम नहीं करते हैं, फिर भी प्राण तो काम करता रहता है। प्राण दर्शन-स्पर्शन की चीज नहीं है। श्वास को आप ढो सकते हैं—महसूसते हैं। प्राण का रव ही प्राण का प्रमाण है। जिसे सूंघ कर नहीं बता सकते। नाड़ी की गति सुननी पड़ती है। प्राण की गति का पता ध्वनि तरंगों से चलता है। ये तरंगें ही मंत्र हैं। इसे ही संत लोग गमगति और गायक सरगम कहते हैं। वेदों ने इसे प्रणव कहा।

श्वास क्रिया से भाषा का संबंध है। प्राण क्रिया से ओंकार ध्वनि का संबंध है। भाषा के प्रयोग में मन दौड़ लगाता है। स्वर के प्रयोग में मन लंगड़ा हो जाता है। भाषा छोटी-बड़ी नहीं होती, पर स्वर विलंबित-द्रुत होता है। यह द्रुत-विलंबिता प्राणायाम की चढ़ाई है। मन अंतर्मुख होता है, तभी स्वराधान प्रारंभ होता है। स्वर मन को कैद कर लेता है। मंत्रोच्चार का अर्थ ही है कि मन कैद हो गया। पहले स्वरूप का ध्यान, फिर स्वर का संधान—जैसे शर-संधान में मन नहीं बचता। स्वर से मन के हटते ही राग भ्रष्ट हो जाता है। स्वर पढ़ने में संपूर्ण एकाग्रता होती है। यहां मन को स्थिर करना नहीं पड़ता। वह पटुवा ही जाता है। प्राण क्रिया में जीभ लगती ही नहीं है—'जिह्वा पर आवत नहीं' इसीलिए नाड़ी शोधन करने वाले का मन स्थिर होता है। उनका मन परवश होने लगता है। मन उनको परेशान नहीं करता है। प्राणायामी का मन आज्ञाकारी गुलाम होता है। यह प्रयोग करने वाले ठीक से समझते हैं। प्राणायामी पूछिए—भैया, मन कहां है तो हंसेगा, है ही नहीं। अजपा अमन का निरति है। प्राणायाम प्राण का निरति योग है।

प्राणायामी मन के फेर में नहीं रहता है। प्राण मन का राजा है। राजा के सामने जो गुलाम की स्थिति होती है, वही प्राणायाम में मन की गति होती है। प्राण की गोद में मन का जन्म होता है। प्राण नहीं होगा तो तन में तो क्या मन होगा ? मन मर जाता है तो भी प्राण रहता है तन में। लोग कोमा में, बेहोशी में, मूर्छा में होते हैं। मन वहां नहीं रहता है। क्या प्राण भी नहीं होता है ? प्राण के कारण मन का जन्म है। पर श्वास है भी तो मन भाग जाएगा। तन कहीं होगा, मन कहीं चला जाएगा। जो मन श्वास के आगे-पीछे चलता है वही प्राण के आगे पालतू बन जाता है। प्राण मन से बरियारा है। इसीलिए कहते हैं कि प्राण बांधो तो मन स्वतः बंध जाएगा। मन प्राण का सेवक है। प्रणव का उद्‌घोष किया कि मन एक पांव पर हाथ जोड़ कर खड़ा हो जाता है। डांट खाए शिशु के समान। देवता बन जाता है। सुरति पर सवार हो जाता है।

प्राणायाम की क्रिया बड़ी शक्तिशाली क्रिया है। इसे गुरु के साथ ही करते हैं। श्वास क्रिया में चित्त नियंत्रित होता है, पर प्राण क्रिया में चित्त कमजोर पड़ जाता है। प्राणायामी को चित्त की चित्रकारी देखने की फुरसत नहीं होती है। मन की सारी चित्रकारी पर प्रणव पानी फेर देता है। यहां चित्त पूर्णतः निरुद्ध होता है। स्वर लगाकर देख लो—हाथ कंगन को आरसी क्या ?

अब आपको लग रहा होगा कि श्वास और प्राण दो चीजें हैं। श्वास आवर्तन को नाड़ी-शोधन और प्राण संयम को प्राणायाम कहते हैं। तब ध्यान की परिभाषा बनी कि चेतना को शब्द से हटाकर स्वर पर लगा दो। स्वर को संतों ने शब्द कहा—यह याद रख लें। संतों के शब्द का अर्थ घोड़ा, गाय, बैल नहीं हैं। उनका शब्द ही प्रणव है। किसी संत से प्रमाण ले लो। मंत्रों का उच्चार सस्वर होता है—ध्वन्यात्म है। मंत्र वर्णात्मक नहीं है। प्राण की पहचान ही है रव, यानी ध्वनि तरंग। और श्वास में न तो प्राण होता है न रव होता है। रेचक को आप यह तो नहीं कहेंगे कि प्राण निकल रहा है तो न तो पूरक प्राण है न रेचक प्राण है—ये प्राण के खाद्य हैं। अगर पूरक और रेचक ही प्राणायाम है तो यह तो हो ही रहा है तो उसे अब करना क्या ? नहीं, यह भूल है जो हजारों वर्षों से शास्त्रों में दुहराई जा रही है। जबकि प्राणायाम को छिपाकर रखा गया गमगिति में। जिन लोगों ने नाड़ी-शोधन को प्राणायाम कहा—उन्हीं लोगों ने प्राणायाम को बीहड़ असाध्य विकट कहा। यह भी कहा कि प्राणायाम खो गया है, यहीं है और खो गया है। दोनों बातें कहीं और लोगों की नींद नहीं टूटी। वे तो प्राणायाम करने से मना भी करते हैं—क्योंकि उन्हें पता है कि वे जो बता रहे हैं वह प्राणायाम नहीं है। दुकानदार की दुकान में जो माल नहीं होता है वह

कह देता है कि आउट ऑफ मार्केट है। विद्वानों ने फंसा दिया श्वास-क्रिया में। पर यह जाने नहीं कि मैं प्राणायाम नहीं जानता। मतलब बस इतना ही था। सौ बार दुहरा देने पर ही झूठ भी सत्य लगने लगता है। आज लाखों नाक दाबे प्राणायाम पर बैठे, आपको मिलेंगे। यह विचित्रता का देश है। नाड़ी-शोधन होम्योपैथिक डोज है। फायदा नहीं होगा तो कोई घाटा भी नहीं होगा।

प्राण ज्ञानवाही नाड़ियों का सूक्ष्म केंद्र है। प्राण ही भार विहीन प्रकाश है। इसमें गमक और चमक दो क्रियाएं हैं। यानी कंपन, थिरकन, आंदोलन है। गर्भ में जैसे शिशु की बढ़त गोपनीय है, वैसे ही प्राणायाम की सुरति-निरति योग भी परम गोपनीय है। कोई गुरुकृपा कर करा दे, इतनी नमनीयता से गुरु चरणों में विनीत होना है। प्राणायामी को कोई पहचान नहीं पाता। आप समझ मांगिए कि अपान में प्राण का, प्राण का अपान में और प्राण अपान का अन्य प्राणों में हवन कैसे होता है। कोई क्रिया देता है तो ठहर कर लें। इसके लिए विद्वान नहीं, योगी की तलाश कारगर होती है। उनचास प्राणों का ज्ञान वही देगा, विद्वान नहीं। यह तो नाक रगड़वाएगा।

●

मुद्रा एवं योग के लिए उपयुक्त स्थान एवं गुरु

साधक साधना कक्ष सदैव साफ-सुथरा एवं हवा युक्त रखे। साधना के पहले धूप-दीप जला दे। जिससे कक्ष की वायु सुरुचिपूर्ण हो। यदि साधक गुरु गृह पर साधना करे तो अत्यंत उत्तम है या गुरु संदेश से नदी के किनारे 5,000 (पांच हजार) फुट से अधिक ऊंचाई वाले पहाड़ पर, जहां का वातावरण शुद्ध रहता है। ऑक्सीजन प्रचुर मात्रा में हो। प्रदेश न ज्यादा गरम हो, न ही ज्यादा ठण्डा हो अतएव वसंत या शरद ऋतु इसके प्रारंभ के लिए अत्यंत उत्तम है। यदि साधना, प्राणायाम शुरू कर दिए हों तो हर ऋतु में हर समय कर सकते हैं। परंतु एक स्थान पर करें तो ज्यादा श्रेयस्कर है। प्रारंभ में हर समय साधक में गुरु से संपर्क बनाए रखें।

यदि संभव हो तो साधक गुफा बना ले तो अत्यंत उत्तम है। गुफा षटकोण एवं ऊपर पिरामिडनुमा बिना खिड़की का बनाना उत्तम होगा। खान-पान एवं रहने का ढंग सादा हो। गरम पदार्थ का सेवन न करें। गाय के दूध का सेवन अवश्य करें। अंकुरित चना, मूंग, फल, रस, साग का सेवन लाभप्रद है। यदि जरूरी हो तो नाड़ी शोधन भी गुरु के आदेश से कर सकते हैं। अन्यथा नाड़ी शोधन का कार्य खेचरी मुद्रा से हो जाता है। अतएव इस संबंध में गुरु से परामर्श ले लेना उचित है। साधक साधना काल में हर समय प्रसन्नचित्त रहे। घर के झंझट से कम से कम दो माह दूर रहे, कालांतर में योग युक्त हो जाने पर कोई परेशानी नहीं रह जाती। अतएव अभ्यास काल बहुत ही महत्वपूर्ण काल है।

किसी अधकचरे गुरु या जिस गुरु ने इस विद्या को व्यवसाय बना लिया हो उनसे दूर रहने की कोशिश करें। ब्रह्म विद्या, योग विद्या को बेचा नहीं जा सकता। जो बेच रहा है, इसका जानकार नहीं कहा जा सकता। जैसे टेप में प्रवचन बंद कर दिया जाता है। वैसे ही तथाकथित गुरु रट लिया करते एवं साधक को मूर्ख बनाकर अपना ठगहारी रूपी उद्योग चलाते हैं। अभी भी सैकड़ों गुरु हैं, जिनका व्यवसाय जोरों पर है। इस व्यवसाय में अपनी पत्नी, दामाद

एवं अन्य रिश्तेदारों को लगा रखें हैं और अपने सामंतों का जीवनयापन कर रहे हैं। प्रवचन के माध्यम से साधारण जिज्ञासु को बहुत सारा लालच देते हैं। ये अपने प्रचार हेतु पत्र-पत्रिकाओं का निष्पादन भी अपने ही पुत्र-पुत्री के माध्यम से शुरू किए हैं। अभी-अभी कुछ पत्रिका में मैंने देखा कि प्रचार किया गया है—अलग-अलग दीक्षा के लिए अलग-अलग दर अंकित हैं। रुपये के अनुसार ही दीक्षाएं दी जाएंगी। बहुत सारे सिद्धियों के स्वामी अपने को बताया गया है। साथ ही साधक को उसी में लालच दिया गया है कि अमुक व्यक्ति को इस मंत्र से अपूर्व धन लाभ हुआ, तो अमुक व्यक्ति की नौकरी लग गई, तो अमुकं को सुंदरी मिल गई, इस तरह के मिथ्या प्रचार का अर्थ क्या है ? अलग-अलग कार्य सिद्धि के लिए माला एवं मंत्र भी बेचते हैं। यानी दीक्षा लेकर यंत्र-मंत्र सब विक्रय के हैं। साथ ही इस पुस्तक पत्रिका में सब प्रचार मोटे अक्षरों में है। वहीं भूमिका में इसे काल्पनिक तथा कार्य पूर्ण नहीं होने की जिम्मेदारी से बरी हो जाता है।

जो अत्यंत छोटे अक्षरों में लिखा जाता है। यह सब करने वाला सद्गुरु कतई नहीं हो सकता बल्कि मदारी व तमाशबीन अवश्य हो जाता है। ऐसे लोगों पर ही कहा गया है—

'गुरुआ बड़ा लबार है, कौड़ी के तीन॥'

इनका सारा कार्य कौड़ी यानी पैसे पर ही निर्भर करता है। जैसे हनुमान जी संजीवनी बूटी लाने जा रहे थे। रास्ते में कालनेमि ने सद्गुरु के रूप में अपने को अवस्थित कर उनके मूल उद्देश्य से भटकाने की भरपूर कोशिश की, परंतु हनुमान पर तो साक्षात परमपुरुष की कृपा थी। उसे वह भरमा तो नहीं ही सकता, परंतु उद्देश्य में विलंब तो कालनेमि रूपी गुरु उन्हें फंसा कर सदा के लिए उनका पूरा जीवन बरबाद कर देते हैं। 'अंधा गुरु बहरा चेला' वाली कहावत चरितार्थ होती है।

शिष्य को इन विषम परिस्थितियों में चतुर पारखी होना पड़ेगा। जो अपने गंतव्य तक पहुंचने के लिए सद्गुरु की खोज कर सके। सद्गुरु की परिभाषा यह कतई नहीं हो सकती कि उसके पास बहुत-सी संपत्ति है। वातानुकूलित कमरे में रहता है। बड़े-बड़े नेता एवं अधिकारी आते हैं। प्रवचन देने में अत्यंत प्रवीण हैं। बहुत सारी किताबें उनकी हैं, प्रचार माध्यम बहुत बड़ा है इत्यादि। यह सब तो ज्यादा से ज्यादा धूर्तों के पास ही संभव है। सद्गुरु तो नानक, कबीर, अत्री, रमण, जनक-सा ही हो सकता है। यह भी जरूरी नहीं कि पत्नी का परित्याग करे। यदि पत्नी सती साध्वी है। पति के तप त्याग में मददगार

है तो साथ-साथ रहने की पूर्ण हकदार है। यह भारतीय ऋषि परंपरा का द्योतक है। यह निर्भर करता है, गुरु की स्थिति पर। अक्सर समाज में देखा जाता है कि अत्यंत दीन-हीन व्यक्ति जो घर पर खाने के लिए तरस रहा है, जिसका पेट ही पहाड़ है, वह संन्यास ले लिया। मठ मंदिर में बैठ गया, जहां अभी भी अपूर्व धन है। लोगों की श्रद्धा है। रातों रात धनपति के साथ-साथ तपस्वी भी बन गया। संपत्ति के आधार पर उसकी पूजा होने लगी। परंतु यह अत्यंत दुखद घटना है कि जो व्यक्ति अपना पेट नहीं भर सका, वह एकाएक सिद्ध बाबा बन गया। जिसका परिणाम है कि वह संपत्ति का अपने जीवन में खुलकर उपयोग करता है। आप प्रतिदिन पेपर पत्रिका में पढ़ते ही हैं कि अमुक बाबा वेश्याओं के साथ पकड़ा गया। बाबा पर दर्जनों-दर्जनों बालात्कार का केस हुआ, तो अमुक बाबा आज छेड़खानी में, यौनाचार में जेल गए। हद हो गई तथाकथित साधुता की, तप की। आज इस तरह के गुरु की भरमार है। पग-पग पर लोगों को ठग रहे हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से दर्जनों बाबा, भगवान, सिद्ध बाबा को जानता हूं जो विद्या व्यवसायी, विद्यावान-पंडित को रख लेते हैं एवं अपने नाम पर सूत्र लिखवा डालते हैं। तो कहीं साधना एवं भाष्य लिखवा डालते हैं। ये पैसे के बल पर होता है। इनके यहां इक्कीस विद्वानों का दल ही होता है। जो पुस्तक लेखन का कार्य करता है। हस्ताक्षर होता है गुरु जी का।

इन परिस्थितियों में शिष्य को पूर्ण सचेत एवं सावधान होकर गुरु की खोज करना होगा या अपने को पात्र बनाना होगा। अधिकतर शिष्य अपने साधन रूपी मूल उद्देश्य से भटक कर खाली हाथ रुपये एवं सिद्धि के लोभ से तथाकथित व्यापारी गुरु के प्रचार-प्रसार में लग जाते हैं। हां, जीने-खाने या सत्संग का, भंडारा या आश्रम संचालन हेतु धन की जरूरत है, तो कबीर की तरह चरखा कात लो, क्या हर्ज है ? सदना कसाई की तरह मांस ही बेच लो। कोई अंतर नहीं पड़ता। साधना अंदर की चीज है। बाह्य शरीर से कर्म कर लो। परंतु साधारण साधक को मूर्ख मत बनाओ। आज के तथाकथित गुरु करते कुछ भी नहीं, परंतु रहते वातानुकूलित कमरे में। रहन-सहन किसी भी धूर्त सम्राट से कम नहीं। काम के नाम पर मात्र ठगहारी की दुकानें भी बड़े जोर पर विभिन्न शहरों में खोल देते हैं। बड़ा बोर्ड लगा दिया जाता, सिद्धि का वादा भी किया जाता। बड़ी ही विचित्र विडंबना है इन गुरुओं की। इतना ही नहीं बड़े-बड़े यज्ञ के नाम पर धन की वसूली होती है। पुण्य एवं स्वर्ग का लालच दिया जाता है। निरीह जनता शोषण का शिकार बनती है। आपने देखा, कितने महात्मा ग़रीबों को अपना भोजन देते। अपना मठ, मकान, गृह विहीनों को

देते। भारत के तथाकथित धार्मिक लोग अपनी-अपनी संपत्ति एवं गृह आज उदारता से गरीबों को अर्पण कर दें तो 25% गरीबी दूर हो जाएगी। इसमें कोई भी धर्मगुरु, जगत्गुरु, धर्माचारी, यज्ञ के ठेकेदार आगे नहीं आएंगे। बदले में उन्हें नेताओं की तरह मात्र सांत्वना देंगे। अपने शिष्य को समझाएंगे जगत झूठा है, स्वप्नवत है। साथ ही उन्हें विदाई में यदि वह शिष्य कुछ न दे, तो देखना जगत सत्य हो जाएगा। सारा त्याग, तपस्या क्षणमात्र में गायब हो जाएगी। श्राप तक देने में उतारु हो जाएंगे। अभी-अभी एक व्यक्ति आया एवं बताया कि महाराज जी मैं प्रत्येक वर्ष रामायण का प्रवचन कराता हूं। अमुक-अमुक जगद्गुरु, अमुक-अमुक बड़े-बड़े तपस्वी महाराज जी को लाए। इस बार चंदा कुछ कम मिला, दान दक्षिणा कुछ कम दिया, महात्मागण जो कल तक जगत को नकार रहे थे। संसार को झूठा कह रहे थे, दक्षिणा, विदाई में कमी के चलते गाली देने लगे, श्राप देने लगे। इतना ही नहीं एक महात्मा जो 80 वर्ष के हैं, रोने लगे। वे बोले कि मैंने एक हफ्ता प्रवचन दिया। हमें हजार रुपये भी नहीं दिया। हमारा क्या होगा ? वे जाने से इनकार कर दिए। क्या कहे हमारी पत्नी अपनी सोने की अंगूठी निकालकर दे दी। साथ ही कहा कि अब रहने दो इस तरह के यज्ञ को, इस तरह के प्रवचन को। क्या मिलता है इससे ? आप ही निर्णय करें यह किस तरह का धंधा है ? अभी सबसे ज्यादा केस मुकद्दमे महात्माओं के जिम्मे ही हैं। केवल धन के लिए तुमसे कहेंगे, मैं तो महात्मा हूं। हमारा कौन है ? न पत्नी है न बच्चे। तो हमें किस बात की चिंता।

यह तोते की तरह रटा-रटाया उत्तर है, परंतु सबसे ज्यादा चिंता उन्हें ही है। वह चिंता, समाज के लिए नहीं केवल अपने लिए।

साधक सावधान होकर गुरु की खोज करे या पात्रता ग्रहण करे। उसे गुरु किसी भी रूप में परमपिता परमात्मा भेज ही देगा। साधक अपने जीने के लिए, समाज में रहने के लिए कुछ भी कार्य कर सकता है। कोई भी कार्य छोटा नहीं है। अपनी क्षमता के अनुसार किसी उद्योग में तुम लगे हो, साथ ही दो, चार, दस आदमी को और रोजगार उपलब्ध कराते हो, इससे बड़ा मंदिर कोई नहीं है। इससे बड़ा तीर्थ भी नहीं है। आज विश्व में बेकारी की समस्या गंभीर है। अतएव इसी तरह के मंदिर का निर्माण करो। सत् चित् रहकर सच्चिदानंद का भजन करो, वहीं आश्रम है। वहीं कुटिया है। वहां ही परमात्मा का दर्शन करो। हां, यदि वृहत् समाज सेवा की जरूरत गुरु समझता हो तो तुम्हें अन्य जगह लगा सकता है। इस परिस्थिति में तुम्हें अब जगत आर्थिक रूप से गिराएगा नहीं, न ही उर्वशी या मेनका तुम्हें गिरा सकती है। तथाकथित साधु, अकर्मण्य

ब्रह्मचारी के हृदय में कोई लड़की बस जाती है, वही उर्वशी हो जाती है। या मन में रात दिन घूमने लगती है, जो मेनका हो जाती है। परंतु जो साधक घर पर सब कुछ कर लिया अब गुरु कृपा या स्वयं जगत हित में निकलता है, तो बुद्ध-सा होता है। या गुरु निर्देशन में किया गया कार्य ही निष्कर्म है, तप है।

जो साधक पूर्व जन्म में काम से संतुष्ट हो चुका है, अर्थ से संतुष्ट हो चुका है। अब वह केवल ब्रह्मोपासना एवं जगत हित में ही अपना जीवन यापन करना चाहता है। उसे सद्गुरु वृहत जगत सेवा में भेज सकता है। चूंकि जगत हित भी साधना का ही अंग है। यजुर्वेद में कहा गया है—

''यंत्र विश्व भवति एक नीड़म्''

विश्व हिताय का बीज ऋषि के मन में अंकुरित हो सकता है। अतएव गुरु पूर्ण साधक शिष्य को ही इस मंत्र का वाहक बना सकता है।

सद्गुरु वह है जो शिष्य से कुछ भी कामना नहीं रखे। वह उचित पात्र को सभी-कुछ समर्पित कर सकता हो। शिष्य वह है जो अपना सभी कुछ गरु पर न्योछावर कर दे। जब ऐसा गुरु और शिष्य मिलता है, तब रामत्व, कृष्णत्व, बुद्धत्व का फूल खिलता है। शिष्य भी लोभवश गुरु का शरणागत होता है। उसका लोभ पूरा हुआ एवं नहीं हुआ तब, वह दोनों ही हालत में गुरु निंदक होता है।

''आत्म मोक्षार्थ जगत हिताय च।''

अब तुम आत्म मोक्षार्थ के लिए साधना करते रहो, साथ-साथ जगत हेतु भी कुछ कार्य करो। शंकर के मायावाद से पुरुषार्थ में भी उदासी आ जाती है। इस तरह यदि पूर्ण सक्षम गुरु सक्षम शिष्य को मिल जाता है। तब ही कहा गया है—**'सीस दिए जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।''** यह सौदा सस्ता ही है। शिष्य को अपने गंतव्य पर भी पहुंचा देता है। साथ ही जगत हित भी करा देता है। जैसे—राम कृष्ण परमहंस ने विवेकानंद से कराया। जनक ने सुखदेव से कराया। रामानंद जी ने कबीर से कराया। सच्चे साधक के लिए जितना कठिन गुरु खोजना है, उससे भी कठिन सद्गुरु को सच्चा साधक खोजना होता है। सद्गुरु भी बेचैन रहता है। अपना सबकुछ देने को, जिसमें उसकी पात्रता हो। सद्गुरु भी रात-रात भर नहीं सोता। गांव-गांव देश-विदेश घूमता है। सच्चे शिष्य की खोज में। वह उद्वेलित रहता है, कैसे किसको दूं ? कोई भी तो आकर ले ले। तभी तो संत कबीर कहे हैं—

**''देश-विदेश हो फिरा, गांव-गांव की खोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेऊं फटकि पछोरि॥''**

इतना ही नहीं सद्गुरु खुद शिष्य की खोज में खिन्न होकर कहता है।

चलते-चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोस।
बीच में डेरा पड़ा, कहहु कौन को दोष॥

अभी बहुत सारे सद्गुरु ही नहीं, भगवान के अवतार भी हो गए हैं। जिसमें अभी-अभी तीन-चार तो नाना प्रकार के कष्ट, रोग से मरे। अभी कुछ जिंदा दुकान लगा रहे हैं। कोई अपने को कृष्ण का अवतार, तो कोई जनक के अवतार घोषित करते हैं। बहुत से गुरु तो जेल में आकर अपने को माया से लड़ते हुए कृष्ण ही बताए हैं।

इससे सद्गुरु कबीर कहते हैं–

ये कलि गुरु बड़े परपंची, डारी ढगौरी सब जग मार।
घर-घर मंतर देत फिरत है, महिमा के अभिमाना।
गुरु सहित शिष्य सब बुड़े, अंत काल पिछताना।
गुरुआ त कुता भये, ज्ञान न जाने मूल।
शिष्य साधा अढई, रहे कान में फूंक॥

अतएव साधक का पारखी होना तथा सद्गुरु की बेचैनी का अंदाजा कबीर की उक्ति से लगा सकते हैं।

एक लोकोक्ति है। गुरु नानक देव अपने शिष्यों के साथ कहीं जा रहे थे। भीड़ काफी थी। उन्होंने हवा में हाथ हिलाया। तांबे के सिक्के बरसने लगे। अधिकांश शिष्य उसे चुनने लगे। उन्होंने आगे जाकर पीछे देखा तब उनमें से आधे लोग साथ-साथ आ रहे हैं। पुनः उन्होंने हवा में हाथ हिलाया। फिर चांदी के सिक्के बरसने लगे। आगे जाकर देखा तब केवल बाला मरदाना एवं लहना ही साथ आ रहे थे। बाकी सभी चांदी के सिक्कों में फंस गए। फिर उन्होंने हवा में हाथ हिलाया सोने के सिक्के गिरने लगे। बाला मरदाना से अब नहीं रहा गया वह उसमें फंस गया। आगे जाकर गुरु नानक जी ने देखा केवल लहना ही आ रहा है। उन्होंने पूछा, क्यों जी तुमने सोने की अशर्फी नहीं ली। वह बोला, नहीं गुरुदेव मेरे गुरु तो आप हैं। मैं आपका अनुगामी हूं। मुझे तो केवल आप ही चाहिए। गुरु नानक ने उन्हें गले से लगा लिया। वही लहना गुरु अंगद देव बना। गुरु के लिए सांसारिकता को दांव पर तो लगाना ही होगा। लेकिन आज गुरु को दांव पर संसार के लिए लगाते हैं।

मुद्रा–यह हठ योग, कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए अत्यंत लाभदायक है। अतएव निम्न प्रकार की मुद्रा हैं जो साधक को गुरु के समक्ष सीख लेनी चाहिए।

(1) खेचरी मुद्रा
(2) अश्विनी मुद्रा
(3) महा मुद्रा
(4) योनि मुद्रा
(5) शक्ति चालिनी मुद्रा
(6) शांभवी मुद्रा
(7) योग मुद्रा
(8) उन्मुनि मुद्रा
(9) विपरीत करणी मुद्रा

ये ही मुख्य मुद्राएं हैं, इसी तरह कुछ और मुद्रा भी हैं, जो साधक के लिए खास जरूरी नहीं हैं। इनका उल्लेख स्वानुभव के अनुसार ही लिख रहा हूं अतएव अन्य पुस्तकों से मेल खाना कोई जरूरी नहीं है।

खेचरी मुद्रा

यह मुद्रा योगी जन के लिए उतनी ही जरूरी है, जितना शिशु के लिए मां का दूध। कुण्डलिनी जाग्रत होने पर एवं पहले भी यह मुद्रा अत्यंत जरूरी है। तभी तो योगी जन कहते हैं–

सबसे कठिन खेचरी मुद्रा, योगीजन की मातरी।
जो जन साधन करत निरंतर, भव सागर तर जातरी॥

इस विद्या को सद्गुरु विश्वामित्र ने राम को अपने सिद्धाश्रम (बक्सर) में दिया था। जिसके बारे में वर्णन आता है। ऐसी युक्ति बता दी जिससे शरीर की कांति दिन रात बढ़ रही है, भूख प्यास नहीं लगती है। इसमें अमृत का पान करना होता है। सहस्त्र दल कमल से अमृत हर समय झर रहा है। जो मुंह में थूक या रस के रूप में मालूम होता है। तालु में ऊपर एक गड्ढा-सा है तथा उसमें एक छोटा-सा मस्स (लिंग) सा है जिसके बारे में शास्त्रों में कहा गया है कि वही अमरनाथ है। जिस पर हर समय टप्-टप् अमृत रूपी रस गिरता रहता है। भगवान शंकर ने कहा है कि जो व्यक्ति गुरु कृपा से उस अमरनाथ का दर्शन कर लेता है, उसका सारा पाप क्षय हो जाता है। जो उस अमृत का पान करता है, उसके लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता है। वह व्यक्ति सब सुख भोगकर स्वर्ग का अधिकारी होता है। उसी को पीकर योगीजन आनंद में मग्न रहते हैं। (मीरा भई बावरी) मीरा

उसी अमृत रूपी मद को पीकर प्रभु प्रेम में बावली हो गई। इसी से इसे योगीजन की मां कहा गया है।

सात रस—खेचरी मुद्रा के सात रस आते हैं तथा विभिन्न प्रकार के रस के साथ शारीरिक क्रिया भी भिन्न होती जाती हैं। जैसे साधक यदि पहले पहल शुरू कर रहा है तो 'खारा' स्वाद मालूम होगा। जो साधक के शरीर की नाड़ियों का शोधन करता है। जिससे प्रारंभ काल में कुछ फोड़ा-फुंसी या घाव होने की संभावना है। शरीर की सफाई में यह होता है। साधक निरंतर इस मुद्रा में रह सकता है। कार्यालय में काम करते समय या घूमते, पढ़ते-लिखते, हर समय इस मुद्रा में रहकर अमृतपान कर सकता है। इस तरह **दूसरा रस** कुछ **'सुस्वादु'** होगा। खारापन दूर हो जाएगा। साधक की एकाएक स्मरण शक्ति बढ़ने लगेगी। साधना में मन लगने लगता है। वैखरी छूट जाता है। **तीसरा** रस मीठा मिश्री की तरह लगता है। कुछ काल के बाद जब यह रस मिलेगा तो उसके शरीर में कोई रोग नहीं होगा। साथ ही दिव्य दृष्टि आने लगती है। इसी तरह **चौथा** रस मधु की तरह है। इस रस के प्राप्त होने पर योगी को भूख-प्यास नहीं सताती है। अपने आप में मस्त रहता है। उसके बाद सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो कहता है। वही होने लगता है। **पांचवें** रस में मादकता रहती है। जिसमें योगी को अपने शरीर का भान भूल जाता है। मालूम होता है मीरा की तरह मद पीकर बावला हो गया। जो बोलता है, वही काव्य हो गया।

छठा रस जब योगी प्राप्त करता है तो अत्यंत विह्वल हो जाता है। दिव्य दृष्टि, दूर श्रवण, त्रिनेत्र, पर काया प्रवेश की शक्ति या एक साथ कई जगहों पर उपस्थिति या सूक्ष्म शरीर ग्रहण कर जगत हित या दूरस्थ अपने शिष्य को साधना बताता है या विचलित होने पर बचाता है। इसे अब किसी भी चीज की जरूरत नहीं रहती, न ही प्रकृति इसके लिए कोई कमी करती है। इसकी इच्छा मात्र से जागतिक, दैविक क्रियाएं संपन्न हो जाती हैं।

सातवां रस प्राप्त होने पर योगी शरीर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। उसकी इच्छा पर मृत्यु निर्भर करती है। जिस अवस्था में सातवां रस प्राप्त होता है वही अवस्था रह जाती है। उम्र के बंधन से मुक्त हो जाता है। भगवान शंकर कहते हैं—जिस समय सातवां रस योगी प्राप्त कर लेता है, वह हमारे ही सदृश्य हो जाता है। भीष्म पितामह या सनक, सनंदन, सनत कुमार, नारद आदि। अभी भी भारत में कुछ ऋषि हैं जो इस रस का पान कर आनंद से रह रहे हैं। इस तरह खेचरी मुद्रा की जितनी ही व्याख्या की जाए कम होगी। सद्गुरु कबीर, मीरा ये सब इसी से स्वयं सिद्ध कहलाते हैं।

विधि—सबसे पहले साधक गुरु के सान्निध्य में उचित दिन तय कर ले तथा सफेद रुमाल, महीन पीसा हुआ वच एवं बहेड़ा ले ले। इसे पीस कर कपड़े से छाने अन्यथा मोटा रहने पर जीभ कटने का भय है। सुबह नित्य क्रिया से निवृत्त होकर जीभ में बहेड़ा का लेप करे, तब कपड़े से जीभ को दोनों हाथों के अंगूठों एवं अनामिका से अच्छी तरह पकड़े एवं बाहर की तरफ तीन बार खींचें। तीन बार आगे खींचें एवं तीन-तीन बार बाएं दाएं खींचें। तत्पश्चात पानी से कुल्ला कर ले। हाथ के अंगूठे से ऊपर तालु के गड्ढे को साफ करे। अमर लिंग का स्पर्श कर जीवन को कृतार्थ करे। उसके चारों तरफ के उठे हुए मांस को हटाए या कुछ दबाए, कुल्ला करे। तब तीनों अंगुली, कनिष्ठ एवं अंगूठा छोड़कर भीतर ले जाएं। एक छोटी जीभ है उसको ऊपर नीचे से साफ करे, कुल्ला करे। इस तरह ऊपर एवं नीचे को तीन-तीन बार साफ करे। तत्पश्चात वच को लेकर जीभ के ऊपर नीचे अच्छी तरह मल दे एवं कपड़े की मदद से दोनों हाथों से भी जीभ को पकड़ कर तीन बार बाहर यानी आगे की तरफ तथा तीन बार बाएं-दाएं ले जाए। यह क्रिया एक मात्रा कहलाएगी। इस तरह तीन बार करे। यह लंबिका क्रिया पूर्ण हुई। इस तरह सुबह मुंह धोते समय एवं शाम को स्नान करते या नित्य क्रिया से निवृत्त होने के पश्चात लंबिका क्रिया अवश्य करे।

साधक साधना के समय खेचरी मुद्रा में ही बैठे। जब अभ्यास हो जाए तब साधक हर समय खेचरी मुद्रा में रह सकता है। खेचरी करना ही मद पीना या मांस भक्षण करना शास्त्रों में आया है। यथा—

"मांस खावे मदिरा पीवे तब योगी पक्का होवे।"

यही रस पीना मद पीना है। अमर लिंग के आस-पास के मांस को जीभ से हटाना ही मांस भक्षण है। यह मुद्रा साधक के व्यक्तित्व को एकाएक बदल देगी एवं उसकी साधना में चार चांद लगा देगी।

सावधानी—लंबिका क्रिया में वच एवं बहेड़ा का प्रयोग कम से कम 45 दिन तक अवश्य करना चाहिए। यदि कहीं जाते हैं तो साथ रखें एवं सुबह-शाम स्नान गृह में ही कर लें। इसे भी गुप्त रखें। इसको किसी के सामने प्रदर्शित न करें। यह अत्यंत गोपनीय मुद्रा एवं साधना दोनों ही है। गरम पदार्थ का त्याग करें। चाय या दूध अत्यधिक गरम न पिएं। गरम पदार्थ से जीभ का छल्ला जलता है। जिससे खेचरी के द्वारा प्राप्त रस का स्वाद नहीं मिल पाता। अतएव कुछ ठंडा करके ही पिएं। चाय यदि जरूरी हो तो 200 ग्राम से ज्यादा 24 घंटे में किसी भी हालत में न पिएं। कम से कम बोलें। ज्यादा से ज्यादा योगयुक्त खेचरी मुद्रा में रहें।

अश्विनी मुद्रा

साधक पद्मासन या सिद्धासन पर सीधा बैठ जाए। आंख को नासिका के आगे स्थिर रखे तथा खेचरी मुद्रा किए रहे। तत्पश्चात योनि मंडल को घोड़े (अश्व) के सदृश्य बार-बार सिकोड़े इस बार-बार सिकोड़ने एवं छोड़ने को ही अश्विनी मुद्रा कहते हैं। इससे वीर्य स्नायु तंतु मजबूत होता है। अपान वायु शुद्ध होता है। प्राण के स्थान तथा कुण्डलिनी के जाग्रत करने में मदद मिलती है।

महामुद्रा

साधक बाएं पैर में एड़ी को गुदा एवं लिंग के बीच रखे। उसी पर पूरे शरीर का भार दे। तब दायां पैर सीधा कर दे। तब धीरे-धीरे पूरक करे एवं मूलबंध तथा जलंधर बंध लगाकर दाएं पैर के अंगूठे को दोनों हाथ से पकड़े एवं सिर को दाएं पैर के घुटने पर लगावे यथाशक्ति कुंभक इसी स्थिति में रहे। ऐसी कल्पना करना है कि प्राण वायु कुण्डलिनी को जाग्रत कर सुषुम्ना में प्रवेश कर रही है। जब कुंभक अपने आप से नहीं रोका जा सके। तब सिर धीरे-धीरे ऊपर करते हुए उठाए। इस तरह छः बार करे तथा दूसरे पैर से भी इसी तरह बैठ कर छः बार करे। अपनी क्षमता के अनुसार इसे बढ़ा सकते हैं।

इससे कुण्डलिनी शीघ्र जाग्रत होती है। साथ ही प्रमेय एवं उदर पेट की बीमारी का नाश होता है।

योनि मुद्रा

साधक सीधे सिद्धासन पर बैठ जाए तथा दोनों अंगूठे से दोनों कानों को बंद करे। दोनों तर्जनी से दोनों आंखों को, दोनों मध्यमा अंगुली से दोनों नाक को, दोनों अनामिका एवं कनिष्ठा को होंठ पर रखे। इसे ही योगीजन षड्मुखी मुद्रा कहते हैं। तत्पश्चात जीभ को कौवे के चोंच की तरह बनाकर वायु का पूरक करे तथा अपान वायु के साथ मिलावे तब मूल मंत्र का जाप करते हुए, कुण्डलिनी पर आघात करे एवं ऐसी भावना करे कि कुण्डलिनी जाग्रत होकर चक्रों का भेदन कर सहस्र दल की तरफ जा रही है। शरीर ज्योति से भर गया है। पूरा शरीर प्रकाशमय है इससे अंदर ज्योति का साक्षात्कार शीघ्र होता है। कुण्डलिनी जगाने में साधक को सहायता मिलती है।

शक्ति चाालिनी मुद्रा

साधक सबसे पहले प्रसन्नचित्त सिद्धासन या पद्मासन पर सीधे बैठ जाए। एक छोटा-सा सफेद कपड़ा कटि सूत्र के सहारे नाभि पर बांध लें। यदि संभव हो तो शरीर पर भस्म का लेप कर ले। अन्यथा कोई जरूरी नहीं है। अब दोनों हथेली को जमीन पर दृढ़ता से जमा दे। तत्पश्चात धीरे-धीरे नितंबों को जमीन से ऊपर उठाए एवं तब मूलबंध बांधकर दोनों नासिका से पूरक करे। जलंधर लगाकर कुंभक करे। जब तक कुंभक में रह सकते हैं, रहे। कुंभक के समय अश्वनी मुद्रा भी करें, तब जलंधर खोलकर दोनों नासिका से रेचक करे। अब मन को शांत कर एकाग्र बैठ जाए एवं ध्यान करे।

इससे साधक को स्वास्थ्य लाभ के साथ कुण्डलिनी जगाने में मदद मिलती है। योगी लोग तो इसे सर्व रोग नाशक तक कह दिए हैं। यह अत्यंत ही लाभप्रद है।

शांभवी मुद्रा

साधक पद्मासन या सिद्धासन पर निश्चिंत बैठ जाए। गुरु के द्वारा दिए गए मंत्र का जाप करते हुए नासिका के अग्रभाग पर ध्यान केंद्रित करे। अग्रभाग पर ध्यान केंद्रित कर श्वास को देखे एवं इसके साथ मंत्र भी स्मरण करता रहे या त्रिकुटी पर त्राटक भी कर सकते हैं। त्रिकुटी पर ध्यान देकर भी उसी मंत्र का जाप करता रहे। खेचरी मुद्रा के साथ मूल एवं उड्डियान बंध भी लगाना है। अतएव साधक इन बंधों एवं मुद्रा के साथ ही ध्यान करे।

इससे साधक का मन शांत होता है। ध्यान केंद्रित होता है, आत्म प्रकाश का दर्शन होता है। कुण्डलिनी जाग्रत होने में मदद मिलती है।

योग मुद्रा

साधक पद्मासन पर सीधा बैठकर मूलबंध लगा ले। दोनों नासिका से पूरक कर जलंधर बंध लगा लें। अब दोनों हाथों को पीछे ले जाकर एक दूसरे की कलाई पकड़ ले तथा एड़ी से पेट को दबाते हुए, शरीर को आगे झुकाते हुए, सिर को जमीन पर लगा दे। जब तक कुंभक की स्थिति में रह सकते हैं, रहें। तत्पश्चात शरीर को ऊपर उठाकर सीधा हो जाए।

जलंधर बंध खोलकर दोनों नासिका से रेचक करे। इस तरह कम से कम 12 मात्रा अवश्य करे। इससे भी शरीर स्वस्थ होता है। कुण्डलिनी जाग्रत करने में मदद मिलती है।

उन्मुनी मुद्रा

'सहजे उनमुनी जागें, सहजे मिले रघुराई।' इस मुद्रा से ध्यान किया जाता है। साधक चाहे जिस आसन पर आराम से बैठ सकता है। बुद्ध की तरह ध्यान मुद्रा यानी अधखुली आंख से नासिका के अग्रभाग पर ध्यान करना है। यदि साधक तीन माह लगातार ध्यान करे तो मन शांत हो जाएगा। साथ ही स्वर भी दिखलाई पड़ जाएगा। स्वर के दिखलाई पड़ते ही साधक के अंदर एक विचित्र तरह का बदलाव आ जाता है। वह बुद्ध की तरह ध्यान को उपलब्ध होने लगता है।

विपरीत करणी—इसे शीर्ष आसन भी कहते हैं। शुरू में साधक को दीवार के नजदीक एक गद्देदार वस्त्र को रख देना चाहिए, तब दोनों हाथों को सिर के पीछे रखकर मस्तक को कपड़े पर रखकर उल्टा सीधा शरीर को उठा दें। शुरू में दीवार के सहारे श्रेयस्कर है। बाद में स्वयं अलग कर सकते हैं। इससे जलंधर एवं मूल बंध भी लगा सकते हैं। प्रथम दिन 1 मिनट ही करें, इस तरह इसे 10 मिनट तक बढ़ाएं। इस तरह से ज्यादा न करें इसके बाद 10 मिनट खड़ा रहे। जिससे जो खून उल्टा दौड़ा है, वह अब सीधा हो जाए।

इसमें दूध का सेवन जरूरी है। इसमें नेत्र, मस्तिष्क, उदर रोग दूर होता है। जठराग्नि मजबूत होती है। ब्रह्मचर्य धारण करने में मदद मिलती है। यह क्रिया शरीर के लिए अत्यंत लाभदायक है। परंतु ठीक से नहीं हो पाए या खान-पान ठीक नहीं हो रहा है तो योगी को पागलपन भी आ सकता है। अतएव इसे बहुत सावधानी एवं गुरु के निर्देश पर करना उचित है।

साधक के स्वास्थ्य एवं कुण्डलिनी जाग्रत करने में मदद करने के लिए कुछ आसन की भी आवश्यकता है। आज का विश्व मानव नाना प्रकार की बीमारियों से ग्रस्त है। यह बीमारी मानसिक स्तर से लेकर शारीरिक स्तर तक की है। सबसे पहले व्यक्ति का मन बीमार होता है, तत्पश्चात शरीर। यदि मन स्वस्थ है तो शरीर में विकार पड़ने की कम उम्मीद है। अतएव मन के लिए जितना आवश्यक योग है। उतना ही शरीर के स्वास्थ्य के लिए आसन। इस

तरह तो आसन 84 प्रकार हैं। परंतु साधक के लिए अत्यावश्यक कुछ आसनों का वर्णन करना उचित समझता हूं। कुछ आसन स्वानुभव के आधार पर लिख रहा हूं। जरूरी नहीं कि किसी योग पुस्तक में मिले। अतएव आप विश्वास कर गुरु की उपस्थिति में सीख लें या आपका मन हृदय से स्वीकार करे तो आप आसनों को वर्णन के अनुसार ज्यों का त्यों शुरू कर सकते हैं। आपको फायदा होगा हीं।

सर्वरोग हरण सर्वांगासन

यह एक ऐसा आसन है जिसमें शरीर की सक्रियता एवं सहभागिता है। साधक चौकी या जमीन पर ही गद्देदार वस्त्र बिछा ले, जैसे मोटा कंबल एवं उस पर चादर डाल ले। परमात्मा को स्मरण कर चित लेट जाए। पूरा शरीर एक समान बराबर रहे। साधक सबसे पहले पूरा ध्यान दाहिने पैर की अंगुली पर ले जाए, तब दाहिने पैर की उंगलियों को आगे-पीछे 10 बार चलावे। तत्पश्चात ध्यान क्रमशः शरीर के ऊपर खींचना है। एड़ी के संधिस्थल 10 बार कर आगे-पीछे चलावे। तब दाहिने पैर के ही घुटने को उठाकर 10 बार ऊपर-नीचे करना है। पैर को 90^0 पर ऊपर उठाकर ले जाना एवं जमीन पर रखना है। इस तरह दूसरे यानी बाएं पैर से भी यही क्रिया करना है। जब दोनों पैरों से बारी-बारी हो जाए तब दोनों पैरों से एक साथ अंगुली से कमर तक क्रम से 10-10 बार चलावे। तब ध्यान दाहिने हाथ की उंगली पर ले जाना है एवं उंगलियों को 10 बार मोड़ना एवं सीधा करना है। यानी मुट्ठी बांधना तथा खोलना है। तब पंजों के संधि स्थल को आगे-पीछे 10 बार करना है। इस तरह कुहनी को 10 बार मोड़ना एवं फैलाना है, तब दाहिने हाथ को पूरा उठाकर ऊपर ले जाकर सिर के तरफ जमीन को दस बार स्पर्श करना है एवं दस बार सीधा जमीन पर रखना है। इसी क्रिया को बाएं हाथ से करना है। तत्पश्चात दोनों हाथों से एक साथ करना है।

तत्पश्चात ध्यान को खींचकर त्रिकुटी पर जे जाए एवं दोनों पैरों को एक साथ धीरे-धीरे ऊपर उठावे एवं 90^0 पर सीधा करे तथा दोनों हाथ से दोनों तरफ से कमर को पकड़ ले, जिससे पैर ऊपर स्थिर रहें एवं 5 मिनट से 10 मिनट तक इसी अवस्था में शांत एकाग्र ध्यान कर पड़ा रहे। अंत में दोनों पैरों को धीरे-धीरे आगे-पीछे दस बार चलावे। दोनों पैरों को धीरे-धीरे सिर के पीछे ले जाकर जमीन को स्पर्श करे घुटनों सहित पांव जमीन पर एक सूत्र में रहे

तथा हाथ अब पीछे भूमि पर चला जाएगा। 2 मिनट के बाद कंधे से एवं पैर सीधा करना है। तब पैर को धीरे-धीरे जमीन पर पूर्ववत स्थिति में लगाकर रख दे, तथा ध्यान रखे सिर आगे-पीछे न खीचें।

शरीर पूर्ववत यथास्थिति में आ जाएगा। अब भावना करना है कि सारे शरीर में शुद्ध वायु प्राण से भर गया है। शरीर प्रकाश से प्रकाशित है। ओज, ताकत भर गई है। सारे कष्ट रोग शरीर से निकल रहे हैं। तब प्रसन्नचित्त उठकर बैठना है।

इससे पेट की, पैर-हाथ की कष्ट बीमारी दूर होती है। स्मरण शक्ति बढ़ती है। यकृत रोग, पाचन रोग, प्लीहा रोग, रक्त शुद्धि बहुत सारे रोग का निवारण होता है। ध्यान एकाग्र होता है। इस आसन में लगभग संपूर्ण शरीर क्रियाशील हो जाता है। यह समान रूप से बालक से वृद्ध तक के लिए लाभकारी है। विशेषकर लड़की एवं औरतों के लिए अत्यंत लाभकारी है।

हृदयस्थभ्यासन

साधक सीधे चित लेट जाए और पैर आगे की तरफ फैलेगा एवं दोनों हाथ सिर की तरफ, तब पूरक करना है। दोनों हाथ एवं दोनों पैरों को जमीन से 6-8 इंच ऊपर उठाकर कुंभक करना है। जब तक रुक सकें इस स्थिति में रुके रहें। ध्यान त्रिकुटी पर रहे। जब श्वास बाहर निकलना चाहें तब पैर एवं हाथ जमीन पर रखकर रेचक करें। इस तरह 12 मात्रा करें। इससे साधक का फेफड़ा, हृदय एवं छाती संबंधी रोग दूर होता है। पेट की पाचन शक्ति बढ़ती है। कार्यालय में, या मानसिक कार्य कर रहे लोगों के लिए अत्यंत लाभदायक है।

उत्तानपादासन

साधक सीधा चित लेटकर ध्यान त्रिकुटी पर रखें। शरीर को बिलकुल सीधा छोड़ दें। पूरक करें एवं कमर को ऊपर उठावें। जितना आसानी से उठ सकें कुंभक में रहें। तत्पश्चात कमर को जमीन पर धीरे-धीरे रखें एवं रेचक करें यह तीन बार करें। इसके बाद पूरक कर दोनों को धीरे-धीरे ऊपर उठावें। जितना देर कुंभक में ऊपर रख सकें रखें तब पैर नीचे करें एवं रेचक कर दें। यह पैर प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय बार क्रमशः 30^0, 45^0, 60^0, तक उठावें। इस

तरह 12 मात्रा 60^0 पर करें। इस आसन को कई भागों में बांटा गया है। परंतु साधक के लिए यही उत्तम विधि है।

इससे कमर, पैर, टांग ठीक होता है। मेरुदण्ड सीधा हो, पेट, कमर, छाती का दर्द ठीक होता है। आदमी प्रसन्नचित्त रहता है।

धनुरासन

साधक पेट के बल सीधा लेट जाए तथा धीरे-धीरे सिर एवं पैर को ऊपर उठावे तब दोनों हाथों से दोनों पैर के अंगूठे को पकड़े। उठाते समय कुंभक तब दोनों हाथ से पैर का अंगूठा पकड़कर रुकते समय कुंभक करे एवं जब कुंभक तोड़ना हो तब दोनों हाथ से अंगूठा छोड़ दे। धीरे-धीरे पैर तथा सिर को जमीन पर रखे एवं रेचक करता जाए इस तरह प्रारंभ में दस बार करे। इसमें पांच से दस मिनट का समय दे।

इससे उदर विकार दूर होता है। पाचन शक्ति बढ़ती है।

मयूरासन

साधक सीधा पेट के बल लेट जाए एवं तब दोनों हाथों कोहनियों को नाभि के दोनों पार्श्व से लगाकर मूल एवं उड्डियान बंध लगा ले। तब आगे के शरीर को ऊपर उठावे तथा कमर तथा पांव जमीन पर यों ही पूर्ववत लगा रहेगा। यह पांच मिनट करना है।

इससे वात, पित्त का दोष दूर होता है। पेट का कब्ज दूर होता है। भूख लगती है। मेरुदण्ड सीधा होता है।

मस्तक पादांगुष्ठासन

साधक सीधा पेट के सहारे लेट जाए। तब पूरक करते हुए मस्तक एवं अंगूठे को जमीन पर लगाए रहे। अब सारे शरीर को ऊपर उठावे। ऊपर जितना देर रुक सके, कुंभक के साथ रुके। तथा नीचे करते समय रेचक करे। यह पांच मिनट तक करे।

इससे शरीर की संपूर्ण नाड़ियां बलवान होती हैं। मेरुदंड ठीक रहता है। आंत, मस्तक, छाती, पैर का रोग दूर होता है।

भुजंगासन

साधक सीधा पेट के बल लेट जाए तथा हाथ छाती के दोनों तरफ से घुमाकर ऐसे रखे कि सर्प की तरफ छाती से ऊपर उठा सके। एक पैर भूमि पर टिका रहेगा। दूसरा पैर घुटने पर से बिना मोड़े जितना ऊपर उठा सके, उठावे। इस प्रकार बारी-बारी से दोनों पैर को ऊपर-नीचे करे। यह आसन भी पांच मिनट करना चाहिए।

वृश्चिकासन

साधक कोहनी से पंजे तक जमीन पर मजबूती से शरीर को रखे तथा दीवार की मदद से पैर को उठावे। एवं घुटनों से मोड़कर पांव को सिर के ऊपर रख दे। इस स्थिति में पांच मिनट तक रहे। यह आसन चालीस वर्ष से कम उम्र के लोगों के लिए उत्तम है।

इससे शरीर फुर्तीला, हल्का तथा मेरुदण्ड मजबूत होता है। यकृत, तिल्ली, पाण्डु रोग दूर होता है। एवं बांहों में बल वृद्धि होती है। पाचन शक्ति में वृद्धि होती है।

पार्वती आसन

साधक सीधा बैठकर दोनों पैर के तलुए इस प्रकार मिलावे कि दोनों समरूप हो जाएं। तत्पश्चात इसे इस प्रकार घुमावे कि अंगुलियां नितंबों के नीचे आ जाएं और एड़ियां अण्डकोष के नीचे मिलकर सामने दिखाई देने लगें। इस आसन में पांच मिनट बैठे एवं ध्यान नासिका के अग्रभाग पर रखे।

यह औरतों खासकर 30 वर्ष तक के लिए अत्यंत लाभप्रद है। नाड़ियां मजबूत होती हैं। घुटना, मणिबंध एवं अण्डकोष का रोग ठीक होता है।

मत्स्येंद्रासन

साधक मुलायम आसन पर बैठकर बाएं पांव का पंजा दाहिने पांव के मूल में इस प्रकार रखे कि उसकी एड़ी ठुड्डी में लगे और उंगलियां पालथी में तथा दायां पांव बाएं घुटने के पास, पंजा जमीन पर लगाकर रखे। बायां हाथ दाहिने

घुटने के बाहर से चित डालकर उसकी चुटकी में दाहिने पांव का अंगूठा पकड़े। उस दाहिने पांव के पंजे को बाहर सटाकर रखे, तत्पश्चात दाहिना हाथ पीठ की ओर से फिराकर उससे बाएं पैर की जंघा पकड़ ले। मुख को छाती की ओर फिराकर ताने तथा नासाग्र में दृष्टि रखे। इसी तरह दूसरी ओर से भी करे। यह आसन 10 मिनट तक किया जा सकता है।

इससे साधक का पांव, कमर, नाभि, छाती पेट, पीठ छाती के तंतुओं का खिंचाव होता है। पेट के समस्त रोग एवं आंत संबंधी रोग दूर होते हैं।

त्रिबंधासन

साधक पद्मासन पर सीधा बैठकर मूल बंध लगा ले तब दोनों हाथों को ऊपर उठाकर गोमुख क्रिया करे। तब दोनों हाथ पीछे करके दाहिने हाथ से बाएं पांव के अंगूठे को पकड़े। इस तरह 3 मिनट से 5 मिनट तक रहे तत्पश्चात दोनों हाथों को जमीन पर रखकर पूरे आसन को ऊपर उठावे पुनः जमीन पर रखे। इस तरह 5 से 10 बार करे।

इससे कुण्डलिनी जाग्रत करने में साधक को मदद मिलती है तथा प्राण का भी उत्थान होता है।

गरुड़ासन

साधक सीधा दाएं पैर पर खड़ा हो जाए एवं बाएं पैर को दाहिने लपेट दे एवं इसी दाहिने हाथ में बायां हाथ लपेट दे एवं दोनों हथेली समान रूप से मिलाकर नाक के पास रखे। इस आसन को 5 मिनट तक करना चाहिए।

इससे पैर घुटना एवं कोहनी का दर्द ठीक होता है। अण्डकोष की वृद्धि रोकता है। शरीर स्वस्थ रहता है।

ताड़ासन

साधक सीधा खड़ा हो जाए, दोनों हाथों को सीधा ऊपर ले जाए तत्पश्चात दोनों हाथों को ताने हुए रेचक करते हुए सीधा झुके 90^0 पर कुछ क्षण रुक कर घुटने को बिना मोड़े हुए कमर को झुकावे एवं दोनों हाथों से दोनों पैर के अंगूठे

को पकड़े। कुंभक करे, जब तक कुंभक में रुक सकते हैं, तत्पश्चात पूरक करते हुए सीधे पूर्ववत खड़ा हो जाए। इस तरह 5 से 10 बार करे।

इससे कोष्ठ, यकृत एवं तिल्ली का रोग दूर होता है। प्राणायाम करने वाले साधक या सहज योग के साधक या केवल शरीर को जो स्वस्थ रखकर पूरी आयु जीना चाहते हैं। उनके लिए अत्यंत लाभदायक है। अतएव साधक सुबह एवं शाम नियमानुसार अवश्य ही करे। उसे अवश्य ही लाभ होगा।

ताण्डव

यह भगवान सदाशिव के द्वारा बताया गया आसन भी है, नृत्य भी। इस ताण्डव का उल्लेख तो आप्त ग्रंथों में मिलता है, परंतु विधि अनुपलब्ध है। अभी भी यह गुरु के द्वारा सीखकर ही साधक करते आ रहे हैं। फिर भी इस आसन-नृत्य को बहुत ही कम लोग जानते हैं। इसे मैं अपने अनुभव के आधार पर साधक को बता देन चाहता हूं। इस नृत्य में विशेषता यह है कि यदि साधक यह नित्य मात्र 5 मिनट भी कर लेता है और किसी भी आसन की जरूरत नहीं है। परंतु यह नृत्य 50 वर्ष से कम अवस्था में ही लोग कर सकते हैं। इसको करने के पहले शरीर पूर्ण स्वस्थ होना चाहिए। रोगी के लिए उपयुक्त नहीं है अतएव किसी डॉक्टर या गुरु से परामर्श ले लें। तब ही यह नृत्य करना उचित है। यदि साधक स्वस्थ है तो किसी भी प्रकार का रोग करने के पश्चात आने की संभावना अत्यंत न्यून है। यह नृत्य 5 मिनट से 10 मिनट तक दोनों समय साधक पूजा ध्यान से पहले करे। खुले स्थान पर या हवादार घर या आश्रम में।

विधि—साधक इसके लिए एक खोपड़ी रख सकता है। दाहिने हाथ में कमण्डल एवं बाएं हाथ में खोपड़ी रख ले। यदि खोपड़ी जल पात्र नहीं उपलब्ध हो तो भावना बना ले कि एक हाथ में खोपड़ी है तथा दूसरे हाथ में जल पात्र (एक मृत्यु का प्रतीक तो दूसरा जीवन का) दोनों हाथ सीधा अगल-बगल फैला दे एवं मुट्ठी बंद कर ले। लंगोट अवश्य पहनना चाहिए। त्रिकुटी का ध्यान रखे तथा जोर से ऊपर उछले एवं उछलकर दोनों तलुओं पर बैठकर शीघ्रता से उठकर ऐसे उछले कि एक पैर (दायां) का टेहुना उठकर नाभि के समीप आ जाए एवं बायां जमीन पर जाए। इस तरह जब दायां जमीन पर जाए बायां पैर में टेहूना नाभि के समीप आ जाए। इस तरह दोनों हाथ अगल-बगल सीधा ही रहेगा। यानी कमर के ऊपर का भाग ज्यों का त्यों सीधा बिना हिले-डुले रहेगा।

केवल उछलकर दायां पैर जमीन पर तो उछल कर ही बायां पैर नाभि तक। इस तरह साधक की श्वास-प्रश्वास क्रिया खूब तेज हो जाएगी। परंतु श्वास नाक से ही लेना। इससे श्वास मूलाधार चक्र तक पहुंच जाता है। जब साधक थक जाए, पसीना आ जाए तब अंत में जोर से दोनों पैर उठाकर ऊपर की तरफ कूदे एवं दोनों पैरों पर धीरे से बैठ जाए एवं ध्यान त्रिकुटी पर ही जमाए रखे। श्वास की गति को जाने-आने दे। इस तरह साधक ध्यान में लीन रहकर अपने समयानुसार कम से कम 10 से 15 मिनट तक ध्यान अवश्य करे। यह ध्यान साक्षी भाव से करें।

इससे शरीर में मधुमेह, हृदय रोग, फेफड़ा रोग, मस्तिष्क रोग इत्यादि नहीं होगा। शरीर चुस्त-दुरुस्त रहेगा। यह आसन औरतों के लिए वर्जित है। यह आसन युवक साधक के लिए अत्यंत लाभप्रद है। इसे आप सदाशिव के ताण्डव प्रतिभा को देखकर भी अभ्यास कर सकते हैं। मेरा ऐसा अनुभव है कि यदि पुरुष प्रतिदिन सुबह-शाम मात्र पांच मिनट करे तब वह पुंसत्व पा जाएगा। यदि लड़कियां इसे करने लगे तब उनका हारमोन बदल सकता है। दाढ़ी-मूंछ आ सकती है। उसमें पुरुषोचित गुण आ जाएंगे। अतएव लड़कियों के लिए ललित नृत्य दिया गया है। ताण्डव से गहरी समाधि भी लगती है।

●

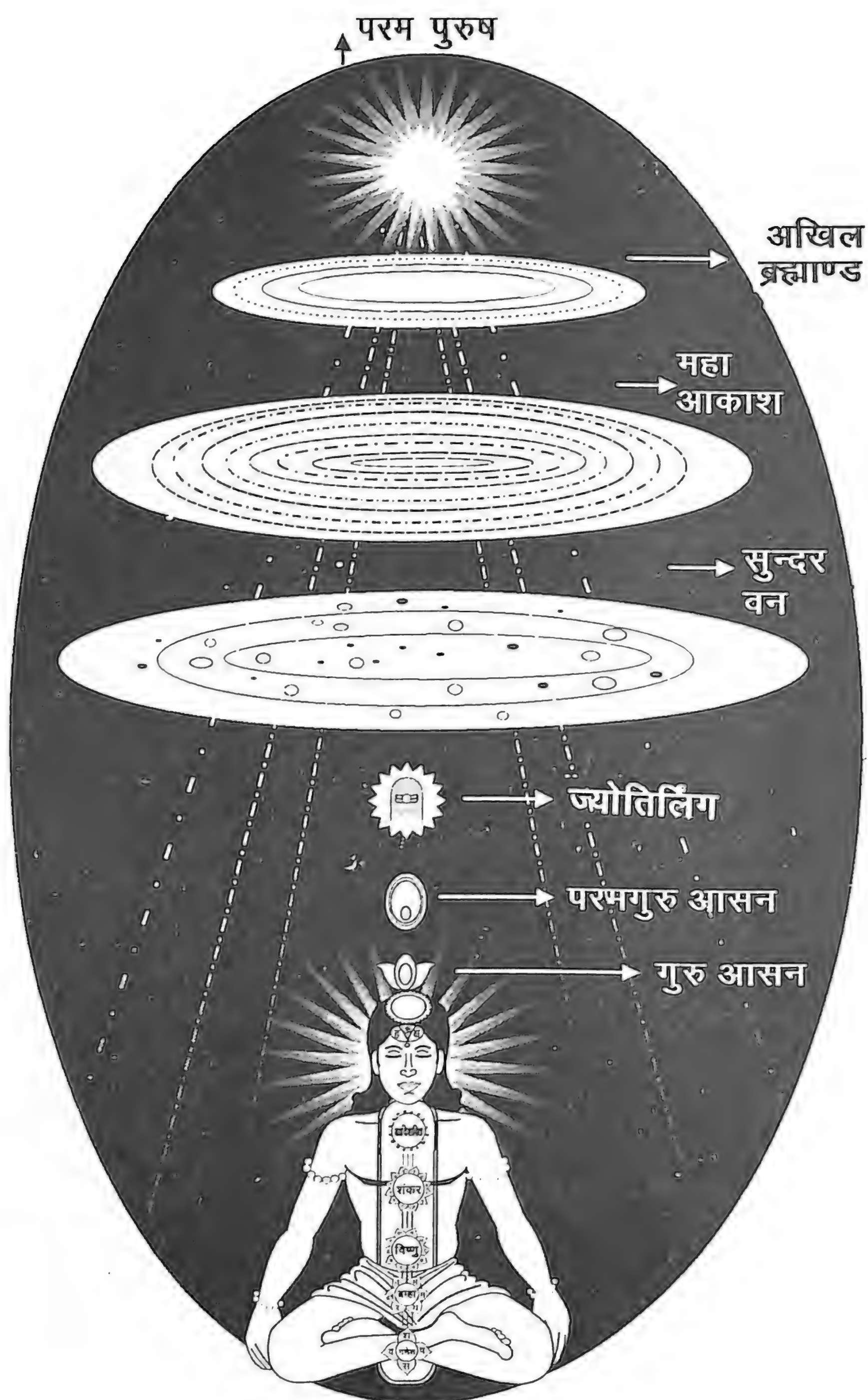
सहज-योग

सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु।
गुरु के बचन समाई हो।।

सहज शब्द का अर्थ होता है आसान, सरल, सीधा। जिस काम में परिश्रम नहीं करना पड़े। जो गुरु के संकेत मात्र से ध्यान को उपलब्ध हो जाए, वही सहज है तथा जिससे सत्य का मिलन हो, वही योग है। इसके लिए भी समर्थ गुरु के साथ-साथ पूर्ण पात्रता वाले शिष्य की भी जरूरत है। अपने को पूर्ण रूपेण चुप रखना है, बाहर-भीतर। गुरु के वचन से सहज ही समा जाना है। क्योंकि प्रकृति को जहां तक लाना था अचेतन विकास क़ी प्रक्रिया में ले आई। उसका काम पूरा हुआ। अब अपने ही गुरु कृपा के एवं वचन के सहारे आगे बढ़ना है। साधक का अर्थ भी यही है कि गुरु के संकेत को समझकर साधना की बागडोर अपने हाथ में ले ले तथा अब गुरु को कह दे कि धन्यवाद। साधक को अनंत ऊंचाई पर मात्र सुरत-निरत के सहारे ही आगे बढ़ना है। साधक को विकास की तरफ निरंतर आगे बढ़ते जाना है।

स यानी साथ, ह-हठ, ज यानी जाप, इस तरह साधक गुरु संकेत से बिलकुल सहज होकर दृढ़ता से सहज सुलभ आसन पर बैठकर अजपा-जाप में लीन हो जाए। गुरु के वचन के सहारे आगे बढ़ते जाए। इस तरह साधक सहज ही ध्यान को उपलब्ध हो जाएगा। सहज योग सद्‌गुरु कबीर के द्वारा दिया गया है तथा इसके लिए अपने को बिलकुल ही सहज बनाना होगा। हम हर समय असहज रहते हैं। आत्मा का स्वरूप सहज है, शांत है। हम सांसारिक वृत्तियों के चलते असहज हो जाते हैं। जैसे काम, क्रोध, लोभ, अहंकार इत्यादि जो नित्य नहीं हैं।

ये पहले नहीं थे, न ही बाद में रहेंगे। ये बाहरी हैं आगंतुक हैं। जब साधक कमजोर हो जाता है या मन मिथ्या भ्रम में पड़ जाता है तो ये आगंतुक कुछ क्षण के लिए आ जाते हैं। जब साधक स्व का भान भूल जाता है तब आगंतुक ही कुछ क्षण के लिए अधिकारी बन जाता एवं कुछ का कुछ अनर्थ कर डालता


परम पुरुष
अखिल ब्रह्माण्ड
महा आकाश
सुन्दर वन
ज्योतिर्लिंग
परमगुरु आसन
गुरु आसन
शंकर
विष्णु

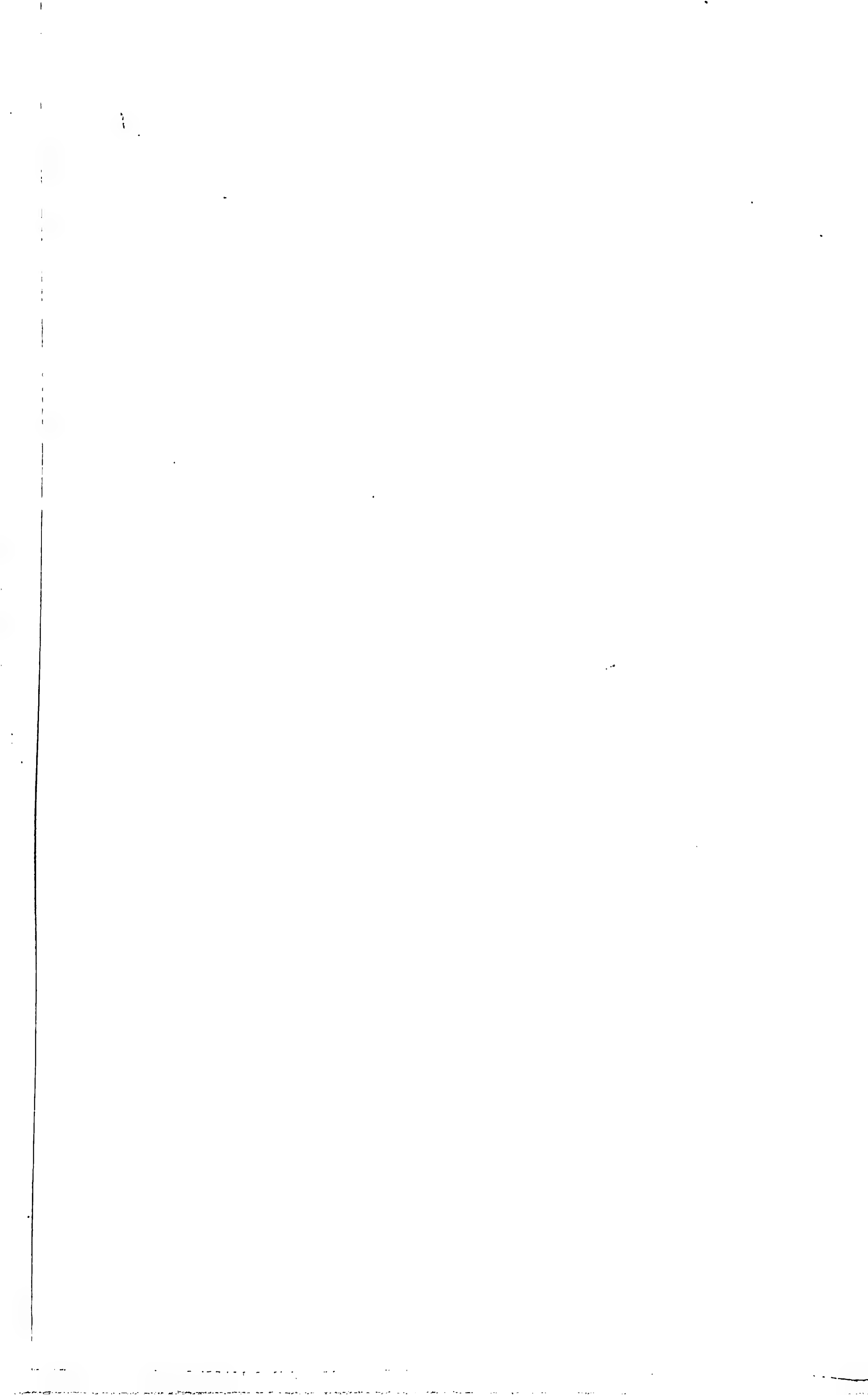




परम पुरुष
अखिल ब्रह्माण्ड
महा आकाश
सुन्दर वन
ज्योतिर्लिंग
परमगुरु आसन
गुरु आसन







है। जैसे किसी के घर कोई परदेसी कुछ क्षण के लिए आए एवं गृह पति कमजोर, नजर आए तो वह परदेसी ही घर का मालिक बन बैठता है एवं अनर्थ कर डालता है तथा वहां से चलते बनता है एवं गृहपति को भोग भोगना पड़ता है। इसी तरह साधक को सहज रूप में स्थिर होना है। जब भी साधक स्थिर सहज अवस्था में रहेगा तब उसके ऊपर गुरु कृपा भी अनवरत होती है। जैसे धान की फसल पर वर्षा। सहज अवस्था में शिष्य अनमोल ध्यान को उपलब्ध होता है। उस पर अनायास ही किसी बाहरी वृत्ति का आक्रमण नहीं होता। जब भी साधक असहज हो जाता है, गुरु कृपा को प्राप्त नहीं होता, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार का शिकार हो जाता है। संसार में हम जिसे अपना मानते हैं, वह तो कभी अपना होता ही नहीं है। रास्ते में मुसाफिर की तरह ही रास्ते में कोई मिल गया, हम अपना बना लिए। अब जब भी वह बिछुड़ता है तो हमें दुख होता है। जबकि यह सहज है कि मिलन के बाद बिछुड़ना होगा ही। इसी तरह हमारा मिलन विभिन्न संगे-संबंधियों से होता है एवं बिछुड़ने पर वही मोह। क्या वे पहले या बाद में रहेंगे या शाश्वत हमारे हैं ? सहज योग का साधक सहज रूप में रास्ते के साथी या सब में अपनी ही सत्ता देखने लगते हैं।

यह शरीर भोग देह एवं कर्म देह का मिश्र देह है। इस सहज योग में साधक श्वास-प्रश्वास का व्यापार करता है। इसे अजपा कहते हैं।

सहज में 'स'- कार और 'ह' - कार दो बीज हैं। बिंदु युक्त हकार (हं) पुरुष का, विसर्ग युक्त 'स' का एक साथ योग करने पर हंस हो जाता है। इस तरह यह हंस रूप प्राण का व्यापार हुआ। कृष्ण भी गीता में जप की बात करते हैं। निरंतर गुरु द्वारा दिए मंत्र का साधक जाप करता है। जिससे उसके अंदर की सारी वृत्तियां जल जाती हैं। सारे विचार स्वतः जल जाते हैं। अंत में जाप विचार भी जल जाएगा। शेष रह जाएगा। वह ही है अजपा। अजपा के आते ही साधक सहज हो जाता है। यही स्थिति है योगयुक्ति। कांटे की तभी जरूरत है जब पैर में कांटा गढ़ जाए। तब दूसरे कांटे से पैर के कांटे को निकाल लेते हैं दोनों कांटों को तुरंत फेंक दिया जाता है। शायद कोई मूर्ख ही होगा जो पहले कांटे को सुरक्षित रख ले। जप का उपभोग भी कांटे की तरह किया जा सकता है। यदि साधक कांटा नहीं समझा और प्रेम में पड़ गया तो जो दूसरे विचार सहज आए थे, वह हट जाएंगे।

जप वह अग्नि है जो पहले दूसरों को जलाता है फिर पुनः स्वयं को जलाता है। जप जब खुद को जला लेता है तब साधक सहज हो जाता है। सहज योग के साधक जप करते समय साक्षी बने रहते हैं। ऐसा अनुभव नहीं करते

कि मैं जप कर रहा हूं। अनुभव करते हैं कि जप मन से हो रहा है, मैं देख रहा हूं। वे एक दिन जप से बाहर निकल आते हैं। उनका यह जप योग यज्ञ पूर्ण हो जाता है। वे सहजावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। जप रूपी अग्नि में सबकुछ जल जाता है। साधक को जलने के लिए भी तैयार रहना होगा। अंत में जो रह जाता है वही नित्य है। वही स्वरूप है। जप, अजपा, अनाहद से साधक एक दिन ऊपर उठ जाता है। वह आनंद में विचरण करता है। यही है—सहजावस्था।

सहज योग

सहज योग के लिए कुछ भी त्याग नहीं करना है। न घर छोड़ना, न परिवार, न कार्य, न कर्म, अन्यथा असहज हो जाएंगे। जहां है जैसे हैं, वहीं रुक जाना है। क्षणभर अपने को निरीक्षण कर लेना है। गुरु का निर्देश समझ लेना है। अन्यथा छोड़ने-पकड़ने में थक जाएंगे मिलेगा कुछ भी नहीं।

चलते-चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोष।
बीच ही में डेरा पड़ा, कहु कौन को दोष॥

क्रिया कर्म करते-करते, छोड़ते-पकड़ते थक जाएंगे। नगर नौ कोस दूर ही रह जाएंगे। डेरा बीच में डालना पड़ जाएगा। अब किसको दोष दीजिएगा। जप क्रिया (लुकाढ़ा) से ही काम, क्रोध, लोभ, अहंकार रूपी घर को जला देना है। तब ही 'स्व' का साथ हो सकता है। या यों कहें कि स्वयं जप रूपी लुकाठा से जल ही जाता है एवं 'स्व' का साथ हो ही जाता है।

घर हम जारा आपना, लिया लुकठा हाथ।
अब घर जारो तासुका, जो चले हमारे साथ॥

सच कहा जाए तो इस तरह के पर साधक को न ही मानसिक स्तर पर कुछ पकड़ना है न तो कुछ छोड़ना है। तब बुद्धि सहज हो जाएगी, सारा काम ही सहज हो जाएगा एवं साधक सहज ही सहज को उपलब्ध हो जाएगा। इस स्थिति में उसको उपलब्ध होना भी कैसे कहा जा सकता है। वह तो पहले से भी था, बाद में भी रहेगा, अभी भी है।

सहज बुद्धि सहजै भई, सहज भाया सब काम।
दास कबीरा मिलि रहा, सहजे-सहजे राम॥

आज तक यह योग गुरु-शिष्य परंपरा से आगे बढ़ता रहा है। कहीं कोई खास लिपिबद्ध नहीं हुआ। कुछ साहित्यकार कुछ साधक-साधु लिपिबद्ध भी किए तो इसे अत्यंत दुरुह बना दिए। अपनी तथाकथित साधुता का या

साहित्यकारिता का अहंकार भी भर दिए। जिससे यह योग साध्य नहीं बना बल्कि और दुरुह बन गया। यही वजह है यह योग जो योगशिरोमणी है, सहज है। सहजता से सबको उपलब्ध नहीं हो सका। अतएव मैं इसे लिपिबद्ध करने को बाध्य हुआ। इसकी कोई भी कमी हमारी व्यक्तिगत होगी, अच्छाई आपकी। चूंकि स्वानुभव अलग-अलग हो सकता है। यह योग हमें भी अपने गुरु से प्राप्त हुआ है। मैंने अपने गुरु के सान्निध्य में रहकर किया है। अतएव विधि एवं अनुभव रूप 'स्व' का है। भले ही इससे कुछ औरों का मेल हो सकता है। कुछ का नहीं भी। सहज का अर्थ है—पानी, हवा की तरह हो जाए। बीच में बुद्धि से बाधा न डाले। जो भी हो रहा है, होने दे। जब भी हम सोचते हैं यह करें, यह न करें बस हम असहज हो गए। जब हम उसी के लिए राजी हैं तो हो जाए जो हो रहा है।

तभी हम सहज हो पाते हैं। सच पूछा जाए तो हम जन्मों जन्म से असहज संस्कारों से आबद्ध हो गए हैं। इसी से सहज होने में अत्यंत कठिनाई मालूम हो रही है। हमारे तथाकथित महात्मा हमारे जीवन पर इतना सिद्धांतों का बोझ लाद दिए हैं कि हम बिलकुल असहज हो गए। जीवन ही विकृत हो गया है। हम हिंसक है, अहिंसक होने की कोशिश कर रहे हैं। कामुक है, ब्रह्मचारी होने की कोशिश चल रही है। चोर हैं, दानी होने की कोशिश कर रहे हैं। जो हम हैं उस पर हम तथाकथित नीति थोपते जा रहे हैं। दान कर सकते हैं, परंतु दानी नहीं बन सकते। लंगोट धारण कर सकते हैं, परंतु ब्रह्मचर्य को उपलब्ध नहीं हो सकते। हां, बाहर से भ्रम पैदा कर सकते हैं, स्वांग रच सकते हैं। हमारे जीवन में जो असहजता है, जो हम हैं उससे भिन्न होने की पूरे समय कोशिश में लगे हुए हैं। यदि हम क्रोधी हैं, क्रोधी होकर जिएं जानते हुए क्रोध करें। जब हम ठीक से जान लें, तो तत्क्षण एक क्रांति घटित होगी, इस घटना में हम तत्काल छलांग लगाकर बाहर आ जाते हैं। अब जीना असंभव हो जाएगा। एक क्षण भी। यही क्रांति हो जाएगी। जीवन सरल, सीधा, सहज हो जाएगा।

सहज योग की विधि

गुरु

साधक जब इस योग के जानकार गुरु की खोज कर लेता है। तब अपने को पूर्णरूपेण गुरु पर छोड़ देना ही श्रेयस्कर होगा। उनके बताए गए निर्देश का

अटूट श्रद्धा एवं विश्वास से अनुपालन करना होगा। यह अवस्था पूर्ण समर्पण है। इसी से कहा गया है–

"शीष दिए जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान॥"

यह सौदा सस्ता ही होगा। अतएव सर्वप्रथम शिष्य को गुरु की खोज करना श्रेयस्कर है। या यों कहें कि यदि शिष्य पूर्ण पात्र बन गया या पात्रता आ गई तो परमपुरुष किसी न किसी रूप में गुरु का काम कर ही लेते हैं। जितना व्यग्र शिष्य गुरु की खोज में रहता है। उससे ज्यादा व्यग्र गुरु भी शिष्य की खोज में रहता है। स्वयं सद्गुरु कबीर साहब भी देश-विदेश, गांव-गांव की खोर तक छान मारे, शिष्य की खोज में।

देश विदेशे हौ फिरा, गांव-गांव की खोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेऊं फटकि पछोरि॥

बस साधक को अपने में पात्रता लाना है। फिर काम गुरु का है।

स्थान–

इस साधना के लिए प्रारंभ काल में स्थान साफ-सुथरा एकांत हवादार होना चाहिए। कहीं जंगल भागने की जरूरत नहीं, न ही मंदिर-मस्जिद का दरवाजा खट-खटाना है। अपने ही घर में, झोपड़ी में, पार्क में, मोहल्ले में, एकांत स्थान खोज लेना है। यदि साधक गुफा का निर्माण कर सके तो उत्तम है अन्यथा कोई हर्ज नहीं है। अपने घर के एक कमरे में प्रयोग कर सकते हैं। यदि कमरा उपलब्ध नहीं है तो साधक अपनी छत पर भी प्रयोग कर सकता है। या अपनी सुविधा के अनुसार एकांत स्थान की खोज कर लें। जहां करने पर विघ्न न हो, शोरगुल न हो। शांत वातावरण हो, सुगंधित हो। अभ्यास का कुछ काल गुरु का सान्निध्य अत्यावश्यक है। यदि साधक को आसानी से गुफा, उपलब्ध हो या एक छोटा-सा कमरा या झोंपड़ी उपलब्ध हो तो उसे अपने लिए आरक्षित कर दे। कम से कम 45 दिन उसमें अन्य कोई न जाए। आप केवल साधना के लिए प्रवेश करें। खाने-पीने, बात करने के लिए एक दम नहीं। संभव हो तो बाहर लिख दे 'साधना कक्ष' जिससे उसमें प्रवेश करते ही साधक के मन पर मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है, एवं शांत होने लगता है। यदि एक कमरा, झोंपड़ी या गुफा अलग उपलब्ध नहीं हो तो निकट का एकांत मंदिर, मस्जिद, श्मशान या पार्क का प्रयोग कर सकते हैं। या मन से एकांतिक स्मृत (Single minded devotion) ही वास्तव में एकांत अवस्था है, परंतु यह ध्यान रहे कि 45 दिन प्रारंभ काल में एक ही स्थान का प्रयोग करें। सहज योग के साधक

अपने घर ही इस तरह का वातावरण पैदा करें कि घर ही विहार बन जाए। आश्रम बन जाए। बौद्ध भिक्षु घर छोड़कर विहार बना दिए। भारतीय संन्यासी घर छोड़कर मठ या आश्रम बना लिए। क्या अंतर पड़ा ? अब आप अपने घर को ही आश्रम बना डालें। सब के बीच मन को ही निर्जन बना लेना है। अंतर्मन को समझा दें कि हम हिमालय की एकांत गुफा में बैठे हैं। चारों तरफ सुरभि है। गुरु अनुकंपा हम पर बरस रही है। फिर आप एकांत का लाभ उठा सकते हैं।

समय–

समय का निर्धारण साधक अपनी व्यस्तता के अनुसार स्वयं निर्धारित कर ले। परंतु साधना काल में गुरु के निर्देशानुसार ही करना श्रेयस्कर होगा। प्रारंभ में साधक को सुबह 4 या 5 बजे जग जाना चाहिए। सुविधा के अनुसार (स्थान, व्यक्ति एवं समय के अनुसार) नित्य क्रिया से निवृत्त होकर स्नान कर ले। या हाथ-पैर, मुंह धोकर बैठ जाए। एक घंटा से 3 घंटा तक अभ्यास कर सकते हैं। पुनः शाम को 6 बजे या 7 बजे संध्या (गोधूली के समय) हाथ-पैर धोकर या सुविधा के अनुसार 30 मिनट से 2 घंटा तक अभ्यास करे। पुनः जो सबसे उपयुक्त समय है वह 12 बजे रात्रि से 1 बजे का समय मध्य रात्रि पूरा जगत सो रहा होता है। योगी योग युक्त हो जाता है। इस समय साधक को सहज ही ध्यान लग जाता है। शोरगुल नहीं रहने के कारण अनाहद भी सहज सुनाई पड़ने लगता है। स्वर साधना में मन स्वतः रमण करने लगता है। यह समय साधक के लिए अत्यंत लाभदायक है। जिस व्यक्ति को स्थान का अभाव है। यानी अलग स्थान नहीं मिल रहा है या संभव हो, उसे अपने परिवार के सदस्यों को समझा देना चाहिए कि 12 बजे रात्रि को मैं ध्यान करूंगा। कोई हस्तक्षेप न करे। साधक उस समय यह सोच ले कि मैं एकांत काल में या गुफा में या नदी के तट पर हूं। जगत के सब लोग सो रहे हैं। मैं (साधक) तपस्या में हूं। इस तरह साधक जिसको सुबह शाम समय एवं स्थान का अभाव हो वह व्यक्ति रात्रि के 12 बजे से 4 बजे का समय अपनी इच्छा या आवश्यकतानुसार प्रयोग कर सकता है। परंतु अभ्यास काल में सुबह शाम और अर्द्धरात्रि तीनों समय में कम से कम एक-एक घंटा करना होगा। जब ध्यान केंद्रित हो जाए तब गुरु आदेश ले, अपनी जगह पर समय एवं सुविधानुसार इस योग का अभ्यास करे। रात्रि का समय सबसे उपयुक्त समय है। यदि कमरे में पंखा या कूलर, वातानुकूलित हो तो कुछ काल के लिए बंद कर देना उपयुक्त होगा।

प्रकाश भी बंद कर दें। क्योंकि पंखे से आवाज उत्पन्न होती है, जिससे ध्यान बहिर्मुख हो जाता है। अभ्यास हो जाने के बाद कोई बात नहीं। शुरू में अंदर के प्रकाश को देखने एवं अंदर के अनाहद को सुनने के लिए बाहर का बंद करना ही उचित है। अभ्यास पूरा होने पर आप कहीं भी अपनी क्रिया कर सकते हैं। चाहे आप ट्रेन में, चाहे बस में, चाहे हवाई जहाज में। उस समय के लिए किसी भी बाह्य औपचारिकता की कोई जरूरत नहीं है।

आसन–

अभ्यास काल में साधक को सिद्धासन पर ही बैठने का अभ्यास करना चाहिए। साधक यदि 3 घंटा तक इस आसन पर बैठ जाता है तो आसन सिद्ध होता है। इस आसन पर बैठने से मेरुदण्ड सीधा होता है। मन एकाग्र करने में मदद मिलती है। श्वास क्रिया में आसानी होती है। अतएव यह आसन गुरु से सीख लेना चाहिए। प्रारंभ काल में कुछ काल इस आसन पर बैठने से यदि पैर में दर्द महसूस हो तो पद्मासन पर बैठ जाना चाहिए। यदि मन ध्यान में रमण करता हो एवं पैर दर्द करता हो तो जिस आसन पर आप आराम एवं सहजता से बैठ सकते हैं, बैठ जाएं। आसन पर बैठने के लिए नीचे गद्देदार चीज का प्रयोग करें, उसके ऊपर कंबल रखें। कभी भी केवल पत्थर या घास-फूस पर नहीं बैठना चाहिए। हिप्स के नीचे कुछ मोटा तकिया या कंबल ही मोड़कर रखें जिससे आप आसानी से अधिक समय तक बैठ सकें।

सिद्धासन पर सीधा बैठकर, शरीर को हल्के वस्त्र से ढक लें। जब साधक का अभ्यास पूरा हो जाएगा तो वह भी, किसी आसन पर, किसी भी तरह ध्यान में जा सकता है। पंतजलि मुनि ने भी अपने दर्शन में कहा है।

'स्थिरं सुखमा-सनम्'। यानी सुखपूर्वक स्थिर रीति से बैठने का नाम आसन है। उम्र ज्यादा होने पर आप पालथी मारकर बैठें तथा दोनों घुटने ऊपर उठाकर कमर में गम्छा बांध लें। जिससे मेरुदण्ड सीधा रहे। आप घंटों आराम से बैठ सकते हैं। बैठने में शरीर का भान भूलना होगा। तब शरीर की तरफ ऊर्जा उर्ध्वगामी हो जाती है। हम सहज ही इस परमतत्व को उपलब्ध हो जाते हैं।

अभ्यास–

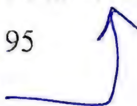
अभ्यास काल में साधक को आहार पर विशेष ध्यान देना होगा। आहार

शुद्ध सात्विक होना चाहिए। जैसा आहार होता है। मन भी वैसा ही होता है। मन का विकास आहार पर भी निर्भर करता है। सतोगुणी भोजन से साधक के मन एवं शरीर पर उत्तम प्रभाव पड़ता है तथा दोनों का विकास भी उत्तम होता है। प्रारंभ काल में दूध, दही की लस्सी या मट्ठा, फल का रस लें। प्रातःकाल जल पीकर शुरू करें।

8 बजे के लगभग पेय पदार्थ तथा दोपहर 10 से 11 बजे तक हल्का सुपाच्य साग-सब्जी युक्त रोटी लें। भोजन ज्यादा खट्टा, मीठा, तीखा न हो, सुपाच्य हो। भोजन हल्का लेना चाहिए। इसी तरह शाम को 6 बजे से 9 बजे तक साधना कर भोजन हल्का ग्रहण करें तथा सो जाएं। साधक 24 घंटे में 6 घंटे सोने के लिए समय निकाले। जिससे शरीर एवं मन दोनों स्वस्थ रहें। किसी भी तरह शरीर या मन से जोर-जबरदस्ती न करें अन्यथा आप असहज हो जाएंगे। हमें किचन फिलॉसफी अर्थात रसोई घर के दर्शन से दूर रहना चाहिए। भारतीय साधु का अधिकांश समय इसी दर्शन में जाता है। आहार, स्थान विशेष, समय विशेष, व्यक्ति विशेष पर बदलता रहता है। अतएव इसे ज्यादा गंभीरता से नहीं सोचना है। आप जैसे-जैसे सरल, सहज होंगे, करुणा, दया, प्रेम की भावना स्वतः आएगी। आपका भोजन भी जीवन भरण-पोषण के लिए हो जाएगा। भोजन जीवन का उद्देश्य नहीं बल्कि जीने के लिए होगा।

ब्रह्मचर्य–

'ब्रह्मचर्य' अत्यंत सुंदरतम शब्द है। परंतु आज तक अधिकांश तथाकथित साधु महत्मा इसके अर्थ को उसी तरह अनर्थ करते हैं जैसे अपने को सहज से असहज करते हैं। हमारे एक महात्मा मित्र हैं। वे बहुत बड़े हैं, क्योंकि उनके पास कई एक आश्रम हैं। बहुत-सी धन संपत्ति है। वंश परंपरागत बहुत शिष्य भी हैं। ब्रह्मचर्य का अर्थ कहते हैं, किसी भी औरत का कभी भी दर्शन नहीं करना। भले ही वह औरत किसी भी उम्र की क्यों न हो। जिस पुस्तक में औरत का चित्र (फोटो) हो उसे भूल कर भी मत पढ़ना। टी॰वी॰, रेडियो कभी मत देखना, न सुनना। किसी श्मशान भूमि पर भी औरत जल रही हो तो वहां तक भूलकर मत जाना अन्यथा उसकी राख उड़कर, तुम्हारे ऊपर पड़ सकती है एवं तुम्हारा ब्रह्मचर्य गिर सकता है। इतना ही नहीं वे आगे बिना विराम के कहते हैं। दुर्गा, काली, सीता या सरस्वती का ही चित्र क्यों न हो, उसे मत देखना। उससे स्त्रीत्व का बोध होता है। जो ब्रह्मचर्य के लिए अत्यंत खराब है। लंगोट कस कर बांधना। संस्कृत के सिवाय किसी अन्य भाषा को मत पढ़ना। हिंदी



पढ़ सकते हो परंतु शृंगार रस को छोड़कर इत्यादि। मुझे भी उनके नजदीक रहने का मौका मिला है। अतएव मैंने नजदीक से उनके शिष्यों को भी देखा है। वे चुपके से आस-पास के घरों में जाकर टी॰वी॰ देखते, रेडियो सुनते इतना ही नहीं किसी तरह कहीं बाजार के बहाने पैसा बचाकर या शिष्यगण से किसी बहाने पैसा लेकर सिनेमा भी देखते। उन पर लगाम आचार्यश्री का जितना कड़ा होता, वे ब्रह्मचारी उतना ही विपरीत दिशा में गमन करते। आश्रम में भी छिप-छिप कर गंदा साहित्य पढ़ने लगे। हमसे एकांत में आकर अंग्रेजी पढ़ने का आग्रह करते। आचार्यश्री की निंदा करते। इतना ही नहीं अपनी साधुता पर भी पश्चाताप करते। वे अश्रुपूर्ण आंखों में स्वयम् कहने लगते—कहां हम लोग फंस गए ? स्वामी जी हम लोग इससे कैसे मुक्त होंगे ? मैंने पूछा, तुम लोग साधु कैसे बन गए ? वे बोले बने कहां ? हमें बरबस बनाया जा रहा है। संस्कृत के श्लोक रटाए जा रहे हैं। प्रातः 4 बजे नहीं जगने पर मार खानी पड़ती, खाना बंद कर दिया जाता है। आश्रम से निकाल देने की धमकी मिलती। उसमें से एक युवक बोला (जो अभी महंत हो गया) हमारे मां-बाप अत्यंत गरीब थे। बड़ी बहन की शादी में आचार्य जी जो हमारे एवं मां-बाप के गुरु भी हैं, कुछ आर्थिक मदद किए थे। तीन-चार वर्ष बीतने पर भी हमारे पिता जी सूद जोड़कर रुपये नहीं लौटा सके। तो गुरु देव हमें रुपये के एवज में मांग लिए। मैं नहीं चाहते हुए भी आ गया। अब साधु बन गया। वहां जितने भी साधु-संन्यासी देखते हैं वे सभी ब्रह्मचारी हैं परंतु कोई भी स्वेच्छा से संन्यासी नहीं बना है। सभी आफत-विपत का मारा है। इसी से हम सब अत्यंत उदास रहते एवं अपने भविष्य के विषय में चिंतित भी। यह छोटा लड़का जो आप देखे हैं, यह मध्य प्रदेश का है। इसका बाप दूसरी शादी कर लिया। इसकी मां को टी॰बी॰ हो गया था। गरीबी के चलते दवा नहीं करा सका। दूसरी मां इसे मारती-पीटती। इसका दुख कर गांव वालों की सलाह पर इसके पिता जी आश्रम में दान दे दिए। अब यह भी संन्यासी बन गया है। जो पंद्रह वर्ष का हो जाता, उसे प्रवचन रटाया जाता। क्योंकि उसे शिष्यों के यहां जाना होता। इस आश्रम के छोटे-बड़े आश्रम भी पूरे भारत में फैले हैं, जहां महंती करना होता। मैंने हंसकर कहा चलो तुम्हारा भाग्य ठीक है बना तो महात्मा, अब तुम्हारी पूजा होगी। तुम ब्रह्मचारी हो, ब्रह्म का साक्षात कर ही लोगे। वह युवक आवेग एवं आक्रोश में बोला—हम महात्मा क्या बने खाक। हमें तो पशु बनाया गया है। हमसे पशु भी अच्छे हैं। हम तो इस तथाकथित साधुता से, ब्रह्मचर्य से तंग आ गए हैं। देखें भाग्य क्या करता है। यह हमें अंग्रेजी, गणित नहीं पढ़ाता, सोचता है हम

लोग भाग जाएंगे। कहीं नौकरी कर लेंगे। अतएव इसे पशु ही रखो। मैं चौंका, पूछा—क्यों बंधु। यह संन्यासी युवक बोला, आचार्यश्री एक महात्मा को अंग्रेजी पढ़ाए, बाद में कानून भी पढ़ाए। यह सोचकर कि हमारे आश्रम का केस-मुकद्दमा संभालेगा। परंतु वह इनसे भी चालाक निकला। इनके ही एक शिष्य की लड़की से शादी कर लिया। अब इसी शहर में नौकरी करता है। परंतु आचार्य जी उसे आश्रम में अब नहीं आने देते। हालांकि आश्रम के किसी भी साधु से ज्यादा पूजा-पाठ करता, या जानकार भी है। मैंने पूछा तू कैसे उससे मिला, जी। बस हमें पता चल गया एवं उसके घर चुपके से पहुंच गया। वह बहुत आदर किया एवं हम लोगों से तो ज्यादा सभ्य है। परंतु हमारे आचार्यश्री उसे भ्रष्ट ही नहीं मानते नरकगामी भी कहते हैं। अब आप ही बताएं स्वामी जी वह कैसे नरकगामी है। ये तो करोड़ों का संपत्ति रखें हैं। कोई दीन-दुखी आ जाए तो एक पैसा भी नहीं देंगे। एक वृद्ध महात्मा बिहार से दर्शन करने आया था। पूजा-भेट भी चढ़ाया। यहां बीमार हो गया। बस क्या पूछना था। हमारे आचार्यश्री महंत जी सोचे कि कहीं मर न जाए। कौन दवा कराएगा ? हम लोगों से कहे कि इसे उठाकर आश्रम के बाहर कर दो। हम ही कहे कि गुरु देव जाड़े का दिन है, कुछ वर्षा भी हुई है। इस स्थिति में इसे कहां रखा जाएगा। कुछ पैसा देते तो हम दवा लाते। बस इतना कहना था कि गुरु जी हमें दो तमाचा जड़ दिए। क्रोध से बोले, तू नालायक है। तू आश्रम की मर्यादा नहीं समझता। पैसा बहुत परिश्रम से आता है। किसी को दवाई करावें, किसी को खिलावो तब तो रहा आश्रम। रहा ब्रह्मचर्य, रहा साधुता। हम साधु हैं हम दान के हकदार हैं, सेवा के हकदार हैं, न कि कोई भी। चल, इसे अभी इसी क्षण बाहर कर। बाध्य होकर स्वामी जी हम लोग उस वृद्ध को टांगने लगे तो वह रोता बिलखता हुआ कहा, हमें इस समय यहीं छोड़ दो। यह हमारा भी गुरुद्वारा है। हमें दवा मत दो, पानी भी मत दो, मात्र रात्रि में रहने तो दो। परंतु गुरु जी के क्रोध के आगे एक नहीं चली। उस रोते हुए वृद्ध को उठाकर बाहर किए। रिमझिम वर्षा हो रही थी, जाड़ा अपने चरम अवस्था में था। हम लोग भी सोचे यह तो बेचारा मर ही जाएगा। परंतु जिस पेड़ के नीचे हम रखे, वहीं एक गृहस्थ पति-पत्नी गंगा से स्नान कर आ रहे थे। सूर्य डूबने जा रहा था। वह गृहस्थ हमसे पूछा, महात्मा बात क्या है ? हम लोग दयावश सारा बात समझा दिए। वे दंपति तुरंत बहुत ही प्यार से उस वृद्ध को अपने घर ले गए। हमें एक माह के बाद उस वृद्ध की पुनः याद आई। मैं इन्हीं दो संन्यासियों के साथ उस गृहस्थ के घर गए। देखकर अवाक रह गए। वह वृद्ध स्वस्थ ही नहीं

कोई जोर नहीं, शांत रहो, साधना करो
काम स्वतः शांत हो जाएगा।

था, उसके बच्चे को बड़े प्यार से पढ़ा रहा था। मैं आवाज दिया। दंपति बाहर आकर हमें हाथ जोड़कर प्रणाम किए एवं बैठने के लिए आग्रह किए। मैंने पूछा कि ये बाबा स्वस्थ हो गए। वे गृहस्थ दंपति अत्यंत विनम्र भाव से बोले, हां महात्मन ये स्वस्थ ही नहीं हमारा परिवार भी संभाल लिए। आप महात्माओं की बहुत बड़ी कृपा हुई। इतने में वह वृद्ध व्यक्ति बोला, ये महात्मा नहीं हैं—चण्डाल हैं। धूर्त हैं। मैं चालीस साल से इन गिरह कटों का शिष्य हूं। बिहार से आता काशी इनको दान देकर चला जाता। सोचता ये संन्यासी मेरे गुरु हैं। परंतु नजदीक से देखने का मौका भगवान दिया तो ये अपने वास्तविक स्वरूप में आ गए। इनके दर्शन का पाप है। यह चण्डाल है—चण्डाल। वह युवक हमसे आगे कहा—स्वामी जी उस वृद्ध की एक-एक बात हमारे कान में अभी-भी गूंजती हैं। मैं अपने से पूछता हूं क्या यही है आश्रम का ब्रह्मचर्य ? क्या यही है साधुता ? तो आखिर चण्डाल कौन ?

क्या यही है हमारी मानसिकता ब्रह्मचर्य की ? ऊपर से लंगोटा कसा है, भीतर काम की अग्नि जल रही है। कोई भी एक लड़की मन में आकर बस गई। बस हो गई मेनका। कोई भी लड़की उसके उर में बस गई, हो गई उर्वशी। यही वजह है कि आज के तथाकथित ब्रह्मचारी विभिन्न प्रकार के व्यभिचार में लिप्त हैं।

आप प्रतिदिन पत्र-पत्रिका में पढ़ते ही हैं। यह असहजता अत्यंत दारुण है। यह ब्रह्मचर्य भी अत्यंत खतरनाक है। ब्रह्मचर्य का तथाकथित व्रत नहीं लिया जा सकता। यदि जबरदस्ती लिया गया तो बहुत ही दारुण एवं दुखद है।

क्या ब्रह्मचर्य इतना कमजोर है ? क्या हम उन औरतों में माता, बेटी का स्वरूप नहीं देख सकते ? यदि सब औरतों में अप्सरा का ही दर्शन होता तो वह ब्रह्मचर्य दो कौड़ी का भी नहीं है। वह ब्रह्मचर्य तो पृथ्वी का भार है। क्या रामकृष्ण परमहंस ब्रह्मचारी नहीं कहे जाएंगे। इन्होंने अपनी पत्नी में भी मां का दर्शन किया। अतः ब्रह्मचर्य यानी ब्रह्म में जो विचरण करता हो। जिसकी मनोभावना ब्रह्ममय हो गई हो, वही ब्रह्मचारी कहला सकता है। ऐसी ही ऋग्वेद की मान्यता है। ईश्वर का चिंतन-मनन, निदिध्यासन ध्यान करने वाले को भी ब्रह्मचारी की परिभाषा दी गई है। इनके अनुसार ब्रह्मचारी वही है जो किसी भी प्रकार वीर्य की रक्षा करता है। जैसे बैल को बंध्या करा दिया जाता तो ब्रह्मचारी कहलाता एवं सांड नहीं। ब्राह्मण ग्रंथों में, कर्मकाण्ड ग्रंथों का लेखन शंकराचार्य के बाद हुआ। उनमें वीर्य रक्षण को ही ब्रह्मचर्य कहा गया है।

इन परिस्थितियों में अब प्रश्न खड़ा होता है क्या राम, कृष्ण, शिव

ब्रह्मचारी नहीं थे ? गर्ग, गौतम, कपिल, भारद्वाज, वेदव्यास, शुकदेव, नानक, कबीर, इत्यादि महापुरुष ब्रह्मचारी थे। या नहीं ? यदि नहीं तो आपके ब्रह्मचर्य में बचता ही कौन ? क्या इनको निकाल कर भी धर्म नामक कोई चीज रह सकती है ? आप स्वयम् विचार करें।

ब्रह्मचर्य को ठीक से समझना होगा। चूंकि यह अत्यंत ही प्यारा शब्द है। ब्रह्मचर्य का अर्थ काम-वासना का दमन नहीं, रूपांतरण है। दमन एवं रूपांतरण में बहुत बड़ा फर्क है हमारे तथाकथित साधु-महात्माओं ने दमन किया है। जिसका परिणाम उनके चेहरे से परिलक्षित होता है। ये कहते हैं कि ब्रह्मचारी जरा-मरा से मुक्त निरोग होता है। आप किसी भी तथाकथित ब्रह्मचारी को रोग मुक्त नहीं देखे होंगे। ये नाना प्रकार के रोगों से ग्रसित हैं। प्रतिदिन डॉक्टर के यहां दौड़ रहे हैं। चूंकि भयग्रस्त हैं। वे जीवन भर रूपांतरण की कला को पहचाने नहीं। अष्टाग्नि ले रहे हैं, मौनी हो गए हैं, भले ही अंदर में उपद्रव चल रहा हो। खडेसरी हो गए हैं, पैर सूख गए हैं। लोग पूजने लगे। विक्षिप्त चित्त का महात्मा और वैसे शिष्यों की भीड़। 'जैसे को तैसा मिला, मिला सोम को सोम।' वाली कहावत चरितार्थ होती है। यह सब अपने को असहज अब्रह्मचर्य करने की कला है। 'चले थे हरि भजन को, ओटने लगे कपास' हरि से तो दूर हो गए, मिथ्या कर्मों में फंस गए। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—**'ब्रह्म जैसी चर्या। ईश्वरीय आचरण दिव्य आचरण।'** कभी भी दमित व्यक्ति का आचरण दिव्य नहीं हुआ है। 'तथाकथित भ्रांत धारणा को छोड़ना होगा कि साधना के लिए, घर छोड़कर वन में धूनी रमाना पड़ेगा। ब्रह्मचर्य का सच्चा अर्थ है—स्वाभाविकता, शांत और समता। अस्वाभाविक परिस्थतियों में की गई तथाकथित साधना वे प्रतिक्रियात्मक जड़त्व के बीज बने रहते हैं, जो अनुकूल परिस्थिति पाकर अंकुरित हो जाते हैं और साधुता के, ब्रह्मचारी के कलंक के रूप में विशाल वृक्ष का आकार धारण कर पल्लवित और पुष्पित होते रहते हैं।' इसका साक्ष्य आपके इतिहास एवं वर्तमान में भी भरे पड़े हैं। ब्रह्मचर्य का फल लगता है। ध्यान काम रूपी ऊर्जा के जुड़ने पर ब्रह्मचर्य का फल सहज ही आ जाता है। काम शरीर की शक्ति है, ध्यान आत्मा की शक्ति है। जब ध्यान काम दोनों जुटते हैं तो आत्मा शरीर की शक्ति अपने आप टूट जाती। यदि ध्यान अकेला है एवं काम रूपी ऊर्जा की खाद नहीं है तो ध्यान परिपक्व हो ही नहीं सकता, अपने शैशव अवस्था में ही सूख जाएगा। काम यदि अकेला है तो साधक को पतन के गर्त में डाल देगा। काम रूपी ऊर्जा को रूपांतरण

कर, ध्यान के सहारे साधक अंतिम लक्ष्य तक पहुंच सकता है। वह लक्ष्य ब्रह्म ही है। तब कहीं साधक में सहज ही ब्रह्मचर्य घटित होता है, तब अपूर्व प्रकाश, ज्योति स्वतः प्रगट हो जाती है। जब जीवन सहज हो गया। अब सुख-दुख सम हो जाएंगे। जैसे—जनक, अत्रि, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, बुद्ध, महावीर, हनुमान, गार्गी, रविदास, मीरा इत्यादि, ये व्यक्ति ब्रह्मचर्य को पूर्णतः उपलब्ध थे। न ही कुछ पकड़ना है, न ही कुछ छोड़ना है। बस सहज, सरल अपने स्वरूप में स्थिर हो जाना है। अन्यथा वधिया किए हुए बकरे या बैल की तरह ब्रह्मचारी बनकर रह जाओगे। आपका आचरण सहज ही ब्रह्म के तरह हो जाएगा। आत्मा न स्त्री है न पुरुष। आत्मा से ही प्रेम निःसरित होता है। प्रेम ही परमात्मा का रूप है। प्रेम ही ब्रह्मचर्य का विकसित रूप है।

'सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्ये नित्यम।'

सम्यक ज्ञान फलित हो गया, सारे दोषों से स्वतः मुक्त हो गए।

जिज्ञासा और बोध–

सहज योग विद्वानों पंडितों के समझ के बाहर हैं। यत्र तत्र कहीं कुछ सुन लिया या पढ़ लिया, परंतु अनुभव नहीं किया। अनुभव से ही जिज्ञासा होती है। इसे थोड़ा यों समझे साधक जब सोचता है—'मैं जिज्ञासु हूं।' यहां बोध नहीं होता। सच्चा जिज्ञासु बेचैन हो जाएगा तथाकथित ज्ञान तो बहुत सुन लिया, परंतु हम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ या अंदर कोई घटना नहीं घटी। हर्ष-शोक, लाभ-हानि का असर नहीं होता है। ऐसी व्याकुलता आने पर साधक अहम से दूर हटता जाता है। चेतन स्वरूप रह जाता है। साधक को भ्रम हो जाता है कि ज्ञान क्या है ? ज्ञान जड़ का ही होता है, चेतन का नहीं। चेतन तो ज्ञान रूप ही है। उसका अनुभव होने पर अनुभव मात्र रह जाता है। अनुभव नहीं। ज्ञानमात्र रह जाता है। ज्ञानी नहीं।

यह साधक भविष्य का अनुसंधान अपने में ही करता है, न अतीत की चिंता न भूत की फिक्र हंसते हुए वर्तमान में जीना जानता है। योग वशिष्ट का एक सूत्र है।

''भविष्यं नानुसन्धते नातीत चिन्तनमत्यसौ
वर्तमान निमेषं तु हसन्नेवानुनर्तते।।''

सब जैसे ठहर जाए। अतीत नहीं, भविष्य नहीं, तो वह जो ठहराव है, वह स्थिरता है। वहीं ध्यान है। वही संन्यास है, वहीं ब्रह्मचर्य है। वह स्थिरता ही निर्मल है। निर्दोष है। उस स्थिरता में अहोभाव है, आश्चर्य है, रहस्य है।

उस स्थिरता में परमात्मा का दर्शन है, मुक्ति है। निर्वाण है। अतएव साधक वर्तमान में रहकर गुरु का पूर्ण श्रद्धा विश्वास कर निर्देशन को समझें। यदि साधक में विश्वास श्रद्धा की कमी रही एवं गुरु द्वारा यह योग पा भी गया तो वह फलीभूत नहीं होता यथा–

"उपजे खेत बीज नहीं परई। ज्यों किसान किसानी करई॥"

गुरु पर असमंजस्य दिखाई पड़ने पर मन के साथ शरीर का संघर्ष है। फलतः मनुष्य चहुंदिश विभीषक देखने लगता है। प्रबल जिज्ञासा से, अत्यधिक प्रेरणा से शरीर और मन दोनों ऊपर विस्तार करते हैं। उस समय शरीर तथा मन दोनों में ही एक प्रकार का परिवर्तन आ जाता है। उस समय मन धीरे-धीरे कूटस्थ भाव की ओर बढ़ने लगता है। एवं वह अपने चक्र (त्रिकुटी) में सुदृढ़ता से स्थिर हो जाता है।

ध्यान–

साधक को सबसे पहले ध्यान गुरु गृह (आश्रम) में, उसके सरंक्षण में प्रारंभ करना श्रेयस्कर है। इसके लिए किसी पंथ-संप्रदाय का बंधन नहीं, न ही उम्र का बंधन, न ही स्त्री-पुरुष का बंधन है। यह सबके लिए समानरूप से लाभकारी है। पूर्व में बताए गए स्थान, समय इत्यादि का अनुसरण करते हुए साधक सहज आसन पर बैठ जाए। गुरु का ध्यान कर मानसिक पूजा कर मन को बाह्य वृत्ति से खींचकर अंतर्मुखी कर ले। अक्सर मन बहिर्मुख ही रहता है। चूंकि जन्मों के संस्कार लेकर चल रहा है। क्षणमात्र में उन संस्कारों का क्षय संभव नहीं है। अतएव गुरु का अवलंबन ही उत्तम है। गुरु द्वारा सत्नाम ग्रहण कर ले। या साधक प्रथम तीन दिन सिद्धासन कर बैठ कर गहरा श्वास ले। आंख बंद कर ले। अपनी पूरी चित-वृत्ति को श्वास पर लगा दे। जब श्वास अंदर जा रहा है तो उसके साथ जाए। जब श्वास बाहर आ रहा है तो बाहर आए। इस तरह स्थान बिलकुल शांत है। प्रकाश अत्यंत कम होना चाहिए, या अंधेरा रहे तो भी ठीक ही है। चूंकि अंदर के प्रकाश से साक्षात्कार करना है। अतएव साधक अपने अंदर जाते हुए अंदर के प्रकाश को देखना है एवं अंदर के नाद को सुनना है। प्रथम तीन दिन तक साधक "स्व" के अंदर श्वास के साथ जाते समय पूछे "कोऽहम्" मैं कौन हूं। बार-बार पूछे, हर स्वर में पूछे। यह पूछना इतना तीव्र हो कि हर सेल शरीर का पूछंना शुरू कर दे। शरीर का हर सेल जब पूछना शुरू कर देगा यानी स्वर के सामने यह मालूम हो कि कोऽहम् प्रश्न के सामने कुछ है ही

नहीं ? जब समग्र चेतना इस प्रश्न से गूंज उठेगी, तो उत्तर अपने आप आ जाएगा। चूंकि प्रत्येक चीज अंदर से आती है। पूरा का पूरा बरगद का पेड़ छोटा-सा बीज से बाहर आ जाता है। उस बीज के ऊपर से बरगद की टहनी नहीं लगाई जाती। परंतु उस बीज को सड़ना पड़ता है। उसे समाप्त होना पड़ता है या उस वृक्ष के लिए खाद बनना पड़ता है। तब उससे मूलांकुर नीचे पृथ्वी के अंदर गहराई में जाता है, जो अंजाना है, अंधकार है। प्रांकुर ऊपर आता है जो प्रकाशमय है। ठीक उसी तरह साधक के अंदर के वृक्ष रूपी मंत्र अंदर से आ जाएगा। उसके आते ही मैं रूपी अंहकार गिरने लगता है। या इसके जन्म लेने में मदद देने लगता है।

साधक प्रत्येक श्वास गहरे से गहरा ले। प्रत्येक श्वास के साथ सुरति को लगा दे। यह सुरति स्मृति का ही रूप है। प्रत्येक श्वास के साथ वहां जाए, जहां सुरति निरत हो जाए या निःतत्व हो जाए। साधक एक भी श्वास को वृथा न गंवाए।

"श्वास-श्वास में नाम ले, वृथा श्वास न खोय।"

साधक प्रथम दिन तक जोरदार ढंग से श्वास पर अपने को लगा दे। श्वास ऐसे ले जो अंतिम गहराई पर पहुंचे। यानी मूलाधार चक्र पर जाकर आघात करे। जिसके नीचे कुण्डलिनी सोई हुई है। गहरा श्वास लेने पर पेट स्वतः ऊपर नीचे होने लगता है। जैसे छोटे बच्चे को सोते हुए देखे होंगे, उसका पेट ऊपर नीचे चलता रहता है। इसी से चित्रकार चित्र में महात्माओं का पेट बड़ा दिखाते हैं। चूंकि चित्र में दिखाने का और कोई उपाय नहीं। जो व्यक्ति पेट से श्वास लेता है वह निष्कपट, निश्छल हो जाता है। जो व्यक्ति छाती से श्वास लेता है, वह कलुषित, कपटी स्वेच्छाचारी, लंपट होता है। छाती से श्वास लेने वाला व्यक्ति का कभी भी मन, वचन, कर्म एक नहीं हो सकता है। पेट से श्वास लेने वाला व्यक्ति बच्चे की तरह निश्छल वीत रागी कुछ ही दिन में हो ही जाता है। अतएव साधक के प्रत्येक श्वास के साथ अंदर मूलाधार चक्र तक जाए एवं श्वास के साथ ही वापस आ जाए।

यदि साधक ने अपने गुरु से खेचरी मुद्रा सीख ली है तो अत्यंत लाभकारी है। यदि नहीं सीखी है तो उसे भी इसी के साथ सीख ले। चूंकि ध्यान में बैठते वक्त साधक सिद्धासन पर बैठकर खेचरी मुद्रा भी कर ले एवं अमृत रस का भी पान करता रहे। इससे एक साथ दोनों काम होते रहेंगे। खेचरी से शरीर का पोषण, नाड़ी शोधन के साथ चित्त-वृत्ति भी अंतर्मुखी होती है। खेचरी योगीजन की मां कही गई है। अतएव जब तक साधक ध्यान में रहे तब तक खेचरी मुद्रा

में अवश्य रहे। अभ्यास काल के बाद साधक सदैव मौन काल में खेचरी में रह सकता है। इससे केवल लाभ ही है एवं साधक के लिए अत्यावश्यक है।

साधक तीन दिन तक अपने से प्रश्न (कोऽहम्) पूछ लेता है। अपनी पूरी की पूरी समग्रता से पूछता है तो उत्तर अवश्य पा जाता है एवं तीन दिन के बाद साधक बदला हुआ नजर आता है। चेहरे पर प्रसन्नता, उल्लास एवं अजीब सी शांति महसूस करता है। जैसे—जन्मों से बिछड़ी अमूल्य चीज मिल गई हो। साधक में इतना उल्लास आ जाता है कि अब संसार मिथ्या नजर आने लगता है। साधना ही सत्य नजर आने लगती है। अब उसका मन हर समय हर क्षण अनायास ही उधर जाने लगता है। खेचरी भी अब स्वतः होने लगती है, अब खेचरी के लिए भी प्रयास नहीं करना पड़ता।

साधक को तीन दिन की साधना से यदि सत्नाम हाथ लग जाता है तो अति उत्तम। चूंकि यह उधार नहीं होगा। यह 'स्व' का जाना हुआ होगा। यदि मन नाना प्रकार के विघ्नों में फंसकर नहीं जान पाता या संस्कारों में ही उलझ जाता है तो गुरु का आश्रय ग्रहण कर, उस सत्नाम को ले लें एवं गुरु का भी कर्तव्य है कि शिष्य को श्रवण करा, दे, दिखा दें अन्यथा—'बिन देखे वा देश के, बात कहे सो कूर।'

मन अत्यंत चंचल है। संभव है अभ्यास काल में साधक की कोई वृत्ति अति मुखर हो उठे, जो भी वृत्ति दबी होगी, वह जग सकती है। उसका वेग प्रचंड हो सकता है। चाहे वह काम हो, चाहे लोभ हो, चाहे क्रोध हो। अतएव साधक को धैर्य नहीं खोना चाहिए अन्यथा 80% साधक इसी अवस्था में भाग चलते हैं। इसे सुखद एवं दुस्साहस समझकर झूठा कह एवं बकवास तक कह देते हैं। साधक को गुरु पर अटूट विश्वास कर उसका ध्यान करना चाहिए। गुरु की ध्यान रूपी खड़ग से सब विघ्न का नाश हो जाता है। गुरु द्वारा बताए गए सत्नाम के सहारे श्वास पर मन को आरूढ़ कर त्रिकुटी पर ध्यान करे। श्वास गहरा लेते रहे। सत्नाम रूपी मंत्र का जम अभ्यास के सहारे करते जाए। धीरे-धीरे अभ्यास परिपक्व होता जाएगा, ज्योति पर मन टिकता जाएगा। संस्कार ढीला पड़ता जाएगा। योग-वृत्ति होती जाएगी। साधक अब त्रिकुटी पर अत्यंत प्रकाश को देखकर आलोकित हो जाता है। दृढ़ ध्यान टिकने पर साधक को अनाहद भी सुनाई पड़ने लगता है।

त्रिकुटी संगम झलकत हीरा,
चरण चीत तहं रखु कबीरा॥

इसी को संत तुलसी दास जी ने भी कहा है—

परम प्रकाश जलै दिन राती।
नहि चहिए दीप-घृत बाती।।

यह परम प्रकाश है इसमें मन के रमण करते ही मन एकाग्र हो जाएगा। अब मन निर्मल हो जाएगा, वहीं मन अब सहज ही हंस हो जाएगा।

मनवा तू तो हंस था, कागा हुआ अपनी चाल।।

यानी मन अब अपने सहज स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। ग्रहण करना कहना भी गलत होगा। वह मन तो गलत संस्कारों के कारण काग हो जाता है। उसी तरह मन विष्ठा रूपी काम, क्रोध, लोभ इत्यादि को प्रिय समझने लगा था। उससे निकलना उसके लिए दुष्कर हो रहा था। सत्नाम जो गुरु के द्वारा प्राप्त होता है या स्व के अंदर से सुनाई पड़ता है। उसी के सहारे, अनुरक्त होकर यानी सुरत के सहारे निरत में पहुंच जाता है। सुरत को शब्द के सहारे पहुंचना पड़ता है। अन्यथा सुरत भी असहाय हो जाएगी। या भटक जाएगी। यथा—

शब्द बिना सुरति आंधरी, कहो कहां को जाय।
द्वार न पावे शब्द का, फिर फिर भटका खाय।।

अतएव उस सत्नाम रूपी शब्द को पकड़कर सुरत के सहारे निरत में पहुंच जाना है। जब साधक निःतत्व में पहुंच जाता है। तब—

शून्य सहज मन सुमिरते, प्रकट भई एक जोति।

साधक को प्रथम तीन दिन के बाद गुरु गृह में कम से कम और चार दिन रहकर इस आगे की क्रिया को पूरा कर अपने स्थान पर आना श्रेयस्कर होगा। इस तरह साधक को कम से कम 45 दिन साधना सुबह, दोपहर शाम, एवं अर्धरात्रि अत्यंत जरूरी है। कुछ साधक लज्जावश, संकोचवश नहीं करते। इसमें लज्जा किस बात की, लज्जा तो बुरे कामों में होनी चाहिए। चूंकि संस्कार बहुत दिनों तक बुरे कर्मों से संबंद्ध रहा, अतएव जल्दी नहीं छोड़ता है।

अनुभव—

जब साधक का ध्यान निरावलंब टिक जाता है, उस प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है तो उसके अंदर के सारे तार मानो विद्युत तार के हर बल्ब से संयोग कर स्विच ऑन हो गया। जैसे पूरा घर उस बल्ब के प्रकाश से चकाचौंध हो जाता है। वही स्थिति साधक की होती है। उस समय शरीर में एक अजीब तरह का कंपन होने लगता है। आवाज होने लगती है। कभी-कभी पूरी सृष्टि अपने में नजर आती तो कभी पूरी सृष्टि अपने से

निकलते नजर आती है। कभी-कभी नाना प्रकार के दृश्य नजर आने लगते हैं। कभी साधक भयातुर होकर भाग खड़ा होता है। तो कभी अपना ही नाद, जो सुनाई पड़ता है, को बाहर सुनने के लिए दौड़ पड़ता है। कभी शरीर से अत्यंत पसीना निकलने लगता है। इत्यादि नाना प्रकार का अनुभव होने लगता है। साधक को इससे घबराना नहीं चाहिए। उसे एकाग्र हो उसी सत्नाम के सहारे सुरत को निरत में लगाए रहे। कोई भी अनहोनी घटना मालूम पड़े जो साधक बरदाश्त के बाहर मालूम पड़े, उस समय निर्भय होकर गुरु का ध्यान करे। गुरु अपनी ज्ञान रूपी खड्ग से सारी बाधा दूर कर देंगे, परंतु साधना से उठना नहीं चाहिए। खेचरी के द्वारा प्राप्त रस का स्वाद भी बदलने लगे, रस सुखद एवं मीठा भी आने लगेगा। मन में नया-नया अनुभव आने लगेगा। जो न तो वेद में लिखा है न ही पुराण में, किसी से व्यक्त भी करेंगे तो लोग पागल कहेंगे।

ऐसा अद्भुत मत कथो, तो धरो छिपाय।
वेद-पुराणे न कही, कहो तो को पतियाय।।

अतएव साधक अपनी अनुभूति को कहीं भी व्यक्त न करे। आवश्यकता पड़ने पर मात्र गुरु से कहे। यदि साधक मूर्छित हो जाए या विक्षिप्त हो जाए तो उसके परिवार के सदस्य या आस-पड़ोस के व्यक्ति को चाहिए कि उसके सिर पर ठंडा जल का छींटा दे। पैर पर धीरे-धीरे मालिश करें। साधक कुछ ही काल में चेतनता में आ जाएगा। यदि कुछ ज्यादा स्थिति खराब मालूम हो तो नजदीक के किसी भी दूसरे साधक से संपर्क कर ले। या उसके गुरु को सूचना दे। हालांकि गुरु चक्र के साथ कुछ भी अनहोनी नहीं होती है। गुरु शक्ति जो उस साधक का पल-पल निरीक्षण, रक्षण एवं पालन-पोषण करती रहती है। उसका मंगल-ही-मंगल होता है। गुरु पर अविश्वास अश्रद्धा ही उस शक्ति के प्रवाह में बाधक है।

साधक का विश्राम

जब साधक का ध्यान स्थिर हो जाएगा, चित्त शांत हो जाएगा। तब जाप अपने आप अजपा हो जाएगा। शब्द—निःशब्द हो जाएगा। नाद भी अनाहद हो जाएगा। तब साधक को न माला की जरूरत है न ही शब्द का उच्चारण, अब साहब ही भजन करता है, साधक विश्राम की स्थिति में चला जाता है।

कर से माला छुवों नहीं, मुख न बोलो राम।
साहब मेरा भजन करत है, मैं पाया विश्राम।।

यह स्थिति विश्राम की स्थिति मैं, मात्र साक्षी भाव रखना है।
अब चित्त सत् को उपलब्ध हो गया। सत् चित्त आनंद हो गए।।

साधक अपने आप में मस्त रहेगा, आनंदित रहेगा। उसे अब कर्म जाल, संस्कार नहीं गिरा पाएगा। यह अविचल की स्थिति है।

अभ्यासरत होना

मन का स्वतः अभ्यासरत होना—साधक का ध्यान जब निःतत्व में टिक जाता है। सत्नाम का जाप स्वतः होने लगता है। नाद का स्मरण भी स्वतः होने लगता है। यानी सहज हो गया। अब कुछ भी असहज नहीं। तब प्रयास नहीं करना पड़ता है। जैसे एक उद्योगपति अपने उद्योग में सतत लगा रहता है! हर समय अपने फायदे घाटे का खयाल रखता है। उसका संपूर्ण साधना उद्योग ही है। एक दिन की घटना है, वह रात्रि में अपने कारखाने से थका हारा आकर सो गया। पति-पत्नी एवं उसके बच्चे भी नजदीक आस-पास सोए थे। रात्रि में सोए में ही वह व्यक्ति डांटने लगता है तुम्हें शरम नहीं आती जितना पैसा लेता, उतना भी काम नहीं करता। केवल सारा दिन बैठ कर समाप्त करता। अभी दरख्वास्त लेकर आया है छुट्टी के लिए। तुम्हें मालूम नहीं बहुत बड़ा टेंडर मिला है, माल दो हफ्ते में आपूर्ति करना है अतएव दो हफ्ता कोई छुट्टी नहीं। यह कहकर सर के नजदीक रखी बच्चों की किताब फाड़ने लगता है। जोर-जोर से डांटता जा रहा है। किताब फाड़ता जा रहा है। आवाज सुनकर बगल में सोयी पत्नी, बच्चे जाग जाते हैं, बच्चा कहता है, पापा हमारी किताब क्यों फाड़ रहे हैं ? वह व्यक्ति सोए-सोए बोलता है। यह काम का समय है। सारा ऑर्डर छुटने जा रहा है। यह जो है छुट्टी का दरख्वास्त लेकर आया है। समझ नहीं आता काम आखिर होगा कैसे ? इस तरह आगे कहता है, जा काम पर लग जा, अब काम महीने पर नहीं, ठेके पर होगा। बच्चा जगाता है, कहता, कहां टेंडर है, कहां काम है। यहां तो आप हमारी किताब फाड़ रहे हैं। वह उद्योगपति जागता है। तो कहता है अरे, बेटा ! आज कारखाना में दिनभर छुट्टी के लिए आते रहे। मैंने सब काम ठेके पर कर दिया। वही स्मृति मेरे में थी जो सोने में घूम रही है।

ठीक उसी प्रकार जब सारा जगत सोया रहेगा, साधक सहज ही अपनी साधना में रहेगा। वह उद्योगपति का सपना था। यह पूर्ण जागरण है। पूर्ण अस्तित्व का बोध है। सोना भी होश पूर्वक हो जाएगा। हजार में कहीं एक व्यक्ति ही थोड़ा-सा होश में है, अन्यथा सबके सब बेहोशी में हैं। यह ऐसी

बेहोशी है कि उसे ज्ञात ही नहीं पागल अपने को कभी पागल नहीं समझता बाकी पूरी दुनिया को पागल समझता एवं दुनिया के अन्य लोगों पर हंसता। वही स्थिति अधिकांश जन की है। साधक जब भी सोता है, पूर्ण होश में जैसे वह ध्यान में हो, समाधि में हो। सो कर जागता है, तो वह तरो-ताजा हंसता हुआ मालूम होता है। दिव्य आभा से, दिव्य शक्ति से परिपूर्ण है। जन साधारण रात भर करवटें बदलता रहता है। बिछावन तक अस्त-व्यस्त हो जाता है। सोने में भी अशांत है। बुद्ध जिस दशा में सोते थे, ठीक उसी तरह उसी जगह से उठ जाते थे। कहीं कोई करवट नहीं बदलना, मानो ध्यान से उठ रहे हों। कुछ शिष्यों को इस बात पर आश्चर्य होता है। आखिर मामला क्या है ? अधिकांश शिष्य को गुरु पर शक होता ही है। वे गुरु के ही गुण-अवगुण के अवलोकन एवं चर्चा में अपना समय यों ही मिथ्या वाद-विवाद या अवलोकन में बरबाद कर देते हैं। जबकि शिष्य को गुरु के चरित्र यानी वाणी पर यानी उपदेश पर ही ध्यान देना है, अनुसरण करना है न कि उसके व्यक्तिगत चरित्र पर। उसका चरित्र समय विशेष, स्थान विशेष, व्यक्ति विशेष पर बदल सकता है। हर रोगी को डॉक्टर एक ही दवा नहीं देता, अलग-अलग बीमारी का अलग-अलग दवा देता है। यह डॉक्टर पर निर्भर करता है। उसी तरह गुरु अध्यात्म का डॉक्टर होता है। एक दिन बुद्ध के शिष्य आनंद नें सोचा, रात्रि भर जग कर हम लोग देख लेवे, कब करवट बुद्ध बदलते हैं। पूरी रात्रि जागे रहे, बुद्ध ऐसे सोए, मानो समाधि में हों। सुबह उसी तरह जग गए मानो समाधि टूट रही हो। शिष्य तर्क कम करते कुतर्क ज्यादा। वे सोचे कहीं हम झपकी लिए हों उसी समय करवट बदल लिए हों। अतएव उनके दूसरी रात्रि सोने के बाद दोनों पैर के आस-पास दोनों हाथ के आसपास लोटा (जलपात्र) में जल भरकर रख दिया। ज्यों ही बुद्ध हाथ-पैर इधर-उधर करेंगे। जल गिर जाएगा हम जान जाएंगे। आनंद जो उनका अत्यंत नजदीकी शिष्य था। साथ ही नाते में बड़ा भाई भी, वह सोने के बाद सारी व्यवस्था कर दिया, जल पात्र रख दिया। बुद्ध सो गए, मानो समाधि में चले गए। सुबह वे जागे मानो समाधि से वापस आ गए। उसे आना-जाना भी कैसे कहेंगे। ये शब्द मात्र उसके लिए संकेत ही कर सकते हैं, क्योंकि वह गुणातीत हो जाता है और अंत में मानस ज्योति में लीन हो जाता है। इस तरह प्रति संचर की चरम अवस्था गुणातीत है। इसे ही व्यष्टि जीवन का प्रलय कहा जाता है। मनन, वचन, श्रवण ग्रहण ये सभी क्रियाएं भाव हैं। इन भावों का अस्तित्व साक्षित्व से होता है।

सावधानी–

साधक को प्रारंभ काल में ज्यादा समय तक त्रिकुटी पर ध्यान नहीं करना चाहिए। मन सहजता से जितना देर करने दे, उतना ही करना श्रेयस्कर है। हां, मन को सदैव श्वास-प्रश्वास पर रखना श्रेयस्कर है। जब आंख बंद कर ध्यान करने पर नींद आने लगे तो साधक नासिका के अग्रभाग पर देखे। आंख न खुली रहे न ही बंद। जैसे बुद्ध को प्रतिमा में देखा होगा। इससे स्वर दिखाई देने लगता है। इंगला-पिंगला, कौन चलता ? इसका वेग क्या है ? यानी कितनी दूरी पर समाप्त होता है। इसका रंग क्या है ? नासिका के अग्र भाग के प्रकाश पर ध्यान करना है और सब तो स्वतः दिखाई पड़ने लगता है। इस तरह निद्रा नहीं आती। प्रत्येक श्वास यानी दायां (सूर्य स्वर) एक घंटा चलता। इसके बाद बायां (चंद्र स्वर) एक घंटा। चौबीस घंटे में 24 बार बदलते हैं। जो स्वतः होता रहता है। साधक तत्पर रहे ज्यों ही चंद्र स्वर सूर्य स्वर में बदल रहा हो उस समय ढाई बार दोनों चलता है। उसी समय सुषुम्ना (ब्रह्म नाड़ी) में टिका दे। दोनों में कोई भी जब एक दूसरे में बदल रहा हो, उसी समय साधक विशेष सावधान रहे एवं सुषुम्ना में ध्यान को टिका दे। बस उतने में साधक का ध्यान अडिग हो जाएगा। ध्यानस्थ हो जाएगा। सुषुम्ना ही ब्रह्म नाड़ी है, आपके गंतव्य स्थल पर पहुंचा देगी। साधक की यह पकड़ जितना जल्द होती है, उसकी साधना उतना ही जल्दी पूरी होती है। कभी-कभी बलात त्रिकुटी पर ध्यान करने से नेत्र के आस-पास एवं कान के आस-पास किसी रोग के उत्पन्न होने की संभावना है। चेहरे पर भी काला धब्बा। नेत्र का अंदर धंस जाना, मस्तिष्क भी निर्बल हो जाता है। या पागलपन की स्थिति आ जाती है। अतएव साधक को घबराना नहीं चाहिए। यदि खेचरी ठीक करते रहेंगे तो यह बीमारी आएगी ही नहीं, यदि आ भी जाएगी तो कुछ दिन के अंदर स्वतः खेचरी के अमृत रस से ठीक हो जाएगी। अतएव खेचरी वाले साधक गरम पदार्थ का परित्याग कर दें। चाय दिन में मात्र दो कप ले सकते हैं, वह भी ठंडी। जिससे जिह्वा न जले। दूध भी कम गरम लें। साधक के शरीर के सारे रोगों का शमन खेचरी करेगी। अतएव साधक चलते-फिरते, काम करते, हर समय खेचरी में अवश्य रहे। ज्यादा से ज्यादा मौन व्रत रहे। अभ्यास काल में कम से कम बोले। हां, ना में काम चला ले। गुरु की वाणी का ही केवल मनन करे। अन्य पुस्तकों का अध्ययन इस समय में छोड़ दे। भ्रांति उत्पन्न होती है। सिद्धासन या किसी आसन पर बैठा साधक जब ध्यान कर रहा होता है तब उसमें खून का दौर उर्द्ध रहता है अतएव

साधक ध्यान तोड़ते समय 5 मिनट का शवासन कर ले। शवासन में सोए-सोए श्वास द्वारा जाप करता जा एवं सोचे कि परम पिता परमात्मा की अनुकंपा से पूरा शरीर प्रकाशमय है। शरीर में कोई रंग नहीं है। मैं प्रसन्न हूं। स्व का प्रकाश ही सर्वत्र है। अच्छा ध्यान गुरु मूर्ति पर करे। मन में वे ही भाव लावे कि परमात्मा निर्गुण है। निराकार है। उसी का साकार रूप गुरु है। गुरु करुणामय दया का सागर है। हम पर कृपा कर रहा है। वह प्रकाश स्वरूप हमारी त्रिकुटी में प्रवेश कर रहा है। त्राटक सदा बना रहे।

नाद—

जब साधक का ध्यान टिक जाता है। खेचरी मुद्रा से सुस्वाद जल मिलने लगता है। नाद भी सुनाई पड़ने लगता है। यह नाद ही अनाहद है। जिसका हद नहीं है सीमा नहीं की तरफ पहुंचाने में मदद करता है। यह नाद साधक का साध्य नहीं है। रास्ते का अनुभव है। कृष्ण सोलह हजार एक सौ आठ नारियां रखे थे, ऐसा सुनने में आता है। जिसमें 9 मुख्य पटरानियां थीं। वह अंतर जगत का ही उल्लेख है। मणीपुर चक्र यानी नाभी भाग जहां दस दल कमल है, भगवान विष्णु का निवास स्थान है। इसे बैकुण्ठ भी कहा गया है। इस स्थान पर सूक्ष्म, छोटी, बड़ी नाड़ियों का सोलह हजार एक सौ आठ नाड़ियों का मिलन है। जिसमें नौ नाड़ियां प्रधान हैं। 'नौ नाड़ी पूरों देही' बांसुरी बजाने में पूरा जोर नाभि भाग पर ही पड़ता है। कृष्ण की बांसुरी भी इसी अनाहद का विकसित रूप है। जिस बांसुरी को सुनकर श्रद्धा, विश्वास, प्रेम रूपी गोप-गोपियां मोहित हो जाती हैं।

''अनहद अनुभव की करि आशा, ई विपरीत देखहु तमासा।
इहे तमासा देखहु रे भाई, जहवां शून्य तहां चलि जाई।।''

यह अनाहद साधक को अंतर्मुख कर शून्य की तरफ लेकर चला जाता है। यह मुख्यतः मणीपुर चक्र, अनाहद चक्र एवं आज्ञा चक्र के ऊपर अगोचरी के नजदीक से होता है। यह विभिन्न वाद्य यंत्रों के तुल्य होता है। इसे सुनने पर मालूम होता है कि इन्हीं आवाजों के आधार पर ऋषिगण बाहर विभिन्न वाद्य यंत्रों का विकास किए।

''भीतर बाहर का एके लेखा।
जस भीतर तस बाहर देखा।।''

इस पर बहुत वैज्ञानिक अन्वेषण हुआ है एवं अभी भी हो रहा है।

साधक जब साधना प्रारंभ करता है तो पहले झींगुर की आवाज की तरह झन-झन। इसके बाद पहले से कुछ बदला हुआ। चन्-चन्। इस तरह क्रमशः

घंटा, शंख, तोली, बांसुरी, मृदंग एव नगाड़ा की तरह सुनाई पड़ने लगता है। जो श्रवण में अत्यंत प्रियकर लगता है। कुछ साधक कस्तूरी कुण्डली यंत्र बनाकर, कान में लगाकर इसे ही श्रवण करते रहते। सदैव प्रसन्न रहते हैं। इसे ही प्रणव की ध्वनि समझ कर उपासना करने लग जाते हैं। मन ध्यान से हट कर ध्वनि पर केंद्रित हो जाता है, तो साधक को बादल की गर्जना-तर्जना एवं भयानक-भयानक स्वर भी सुनाई पड़ने लगता है। कभी-कभी प्रकाश के चकाचौंध के साथ सारे के सारे वाद्य एक साथ बजते नजर आते हैं। जिसे लगता है या कभी-कभी इसे सुनकर साधक भयातुर हो जाता है एवं साधना से उठ खड़ा होता है। भाग भी जाता है। या कभी-कभी स्वयम् चिल्लाने लग जाता है। ऐसी स्थिति में साधक को गुरु का अवलंबन लेना चाहिए एवं सत्नाम के ऊपर आरूढ़ हो जाना चाहिए।

बादल का गर्जना या समुद्र का गर्जना नाद ब्रह्मांड से आता है। यह यंत्र सबसे वृहद है। यह सहस्रार चक्र से होता है।

यंत्री यंत्र अनुपम बाजे, वाके अष्ट गगन मुख गाजे।
एक शब्द में राग छतीसों, अनहद बानी बोले।।

यहां से वीणा या भ्रमर का मधुर स्वर भी सुनाई पड़ता है। जिसे सुनकर साधक वहीं रुक जाते हैं। चूंकि मधुरता के प्रति मानव मन की कमजोरी है। परंतु चतुर साधक गुरु कृपा से आगे बढ़ जाता है तो सैकड़ों रंगों से युक्त रंगा-रंग प्रकाश दिखाई देता है। जहां बहुतेरे साधक रुक जाते हैं। चूंकि चित्त-वृत्तियां यहां से आगे जाना पसंद नहीं करतीं। यह प्रकाश प्रकृति का ही है। इससे साधक जैसे ही कुछ आगे बढ़ता है। एक मीठा-सा शीतलता पूर्ण प्रकाश मिलता है। जहां साधक उस शीतलता में जन्मों तक ध्यानस्थ हो जाते हैं। आगे की कामना ही उनकी क्षीण हो जाती है। चूंकि यहां अत्यंत शांति मालूम होती है। मानो साधक जन्मों की खोई शीतलता पा लेता है। यह प्रकाश चंद्र प्रकाश ही है। इसका भेद गुरु से प्राप्त कर लेना चाहिए।

दिव्य शक्ति एवं भटकाव–

जैसे ही साधक चंद्र प्रकाश एवं भटकाव में अपने को लीन पाता है। वह अनायास ही दिव्य शक्तियों का मालिक बन जाता है। दूर श्रवण, दूर दृष्टि बहुरूप इत्यादि शक्तियां आ जाती हैं। उसकी इच्छा मात्र से कार्य पूरा होने लगता है। जिसे जो कह देता वह हो जाता है। मानो वह प्रकृति का स्वामी बन जाता है। ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी बन जाता है। बस साधक कहता है, प्रकृति

पूरा करती है। परिणामस्वरूप साधक यहां पहुंचकर भी मान बढ़ाई के चक्कर में पड़ जाता है। अंतर्मुखी वृत्ति बहिर्मुख होने लगती है। तथाकथित सांसारिक ऊंचे पद-प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति इस तरह के साधक को आशीर्वाद प्राप्त करने के चक्कर में बहिर्मुख बना देते हैं। अर्थ में फंसा जीव इनके चमत्कारों का वर्णन बढ़ा-चढ़ा कर करने लगता है। हर समय व्यक्ति इनको घेरे रहता है। उस साधक को पहले तो यह बुरा या अनहोनी मालूम होता है। परंतु कालांतर में वह यदि इसे बंद नहीं किया तो वहीं फंस जाता है। मन बहिर्मुख हो जाता है। वह अधोगति को भी प्राप्त हो सकता है। साधना का विकास रुक सकता है। इस जन्म के साथ अगला जन्म भी बरबाद हो जाता है। साधक संसार में अपने को अति साधारण की तरह सेवा सत्संग में लगे रहना ही श्रेयकर है।

परम शून्य–

जब साधक चंद्र प्रकाश से ऊपर उठता है, तब बिंदु शून्य दिखाई पड़ता है। उसमें महा तेज है। सूर्य-सा गोला, प्रचण्ड प्रकाश। जिस प्रकाश पर साधक का ध्यान नहीं टिक पाता एवं पुनः चंद्र प्रकाश पर लौट कर स्थिर हो जाता है। इस प्रकाश पर ध्यान टिकाना एवं इससे आगे बढ़ना अत्यंत ही दुरुह कार्य है। सच कहिए तो साधक का साधन, तप, निष्काम योग एवं गुरु की प्रबल अनुकंपा ही काम आ सकती है। अन्यथा साधक वहीं जन्मों रुका रह जाता है। यह प्रकाश अंतर सूर्य का प्रकाश ही है। इस प्रकाश में ध्यान टिकते ही साधक अलौकिक हो जाता है। उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाए कम है। साधक अलौकिक हो जाता है। उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाए कम है। साधक के शरीर से स्वतः तेज निकलने लगता है। इसी तेज से दुर्वासा जैसे ऋषियों ने क्या-क्या नहीं किया। विश्वामित्र दूसरी सृष्टि ही करने लगे। इस तेज को बरदाश्त करना अत्यंत दुरुह है। खैर, गुरु कृपा ही केवल सहारा है।

साधक उस गोला प्रकाश या सूर्य प्रकाश को बाईं तरफ से छोड़कर दाईं तरफ से परिक्रमा करके घूमे। उसी तरह मन को भी ऊपर ले जाए। कुछ दूरी पर ही परम शून्य दिखाई पड़ेगा। यही पूर्णत्व का स्थान है। इसे परम शून्य कहना भी बेईमानी है। परंतु शब्दाभाव प्रतीत होता है। अतएव मैंने परम शून्य कह दिया इसे केवल जाना जा सकता है। यहां मैं का मेरे का भान भी समाप्त हो जाता है। यथा–

"मैं मेरी सब जाएगी, तब आवेगी और।
जब यह निश्चल होएगा, तब पावेगा ठौर॥"

यह सहज समाधि है। इसी से इसे अत्यंत उत्तम कहा गया है। यथा—

"उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यान धारणा।
कनिष्ठा शास्त्र चिंता च तीर्थयात्रा धमाऽधमा॥"

यह अवस्था न जाग्रत है न स्वप्न है, न सुषुप्ति, न मूर्च्छा और न समाधि है। सुषुप्ति और सहजावस्था में फर्क यही है कि सुषुप्ति में बेहोशी रहती है, पर सहजावस्था में बेहोशी नहीं रहती प्रत्युत पूर्ण होश रहता है, पूर्ण जाग्रति रहती है, पूर्ण जाग्रति रहती है, ज्ञान की पूर्ण दीप्ति रहती है।

भगवान कृष्ण ने गीता में कहा—'आत्म संयमयोगाग्नो जुह्वति ज्ञानदीपिते।'

साधक को चुप (मौन) स्वाभाविक है। अब वह न कर्ता है न ही भोक्ता। स्वाभाविक अवस्था है—'सहज'।

परम पद

अब मौन योगी कुछ भी करने में असमर्थ हो जाता है। यानी 'मैं तू' का भाव समाप्त हो जाता है। अब तो योगी का खाने, सोने जागने का भी भान समाप्त हो जाता है। स्वरूप को पाकर वह स्वरूपाकार हो जाता है। सुरति अब निरत में जाकर स्थिर हो जाती है। योगी चित्र द्रष्टा की भांति हो जाता है। यह स्थिति योगी की कुछ ही काल रहती है।

पुनः सुरत को मुक्त कर देता है। अब योगी विदेह की तरह सारा जगत का कल्याण कर सकता है। अब मात्र द्रष्टा बन कर संसार में रहता है। उस योगी में स्वरूप की स्थिति एक-सी बनी रहती है। उसे जगत का जागतिक व्यवहार एवं अध्यात्म का पक्ष दोनों समान रूप से ज्ञात होता है। अब वह जगत में उसी तरह रहता है, जैसे कमल जल में।

"कमल पत्र तरंग एक मांही, संग रहे लिप्त पै नाहीं॥"

यही अवस्था परम तत्व है। जीवन्मुक्ति है, सहज समाधि है, अब यह योगी जो भी करता है वही पूजा है जहां रहता है, वहीं तीर्थ है। यथा—

"साधो सहज समाधि भली है।
गुरु प्रताप भई जा दिन से सुरति न अंत चली है॥
जहं जहं डोलों सोइ परिक्रमा, जो कुछ करौ सो सेवा॥
जब सोवो तब करौं दण्डवत, पूजो और न देवा॥
कहो सो नाम सुनो सो सुमिरन, खाव पियो सो पूजा।
गिरह उजाड एक सम लेखो, भाव न राखो दूजा।
आंख न मूदो, कान न रुधो, तननि कष्ट नहि धारौ।

खुले नैन पहिचानो हंसि-हंसि, सुंदर रूप निहारौ॥
सबद निरंतर मनुवां लागा, मलिन वासना त्यागी।
उठत वैढात कबहु न छुटै, ऐसी तारी लगी॥
कहै कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट करिगाई।
दुख-सुख से एक परे परम पद, तेहि पद रहा सगाई॥

सद्गुरु कबीर की उपरोक्त वाणी से सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। वह योग्गी सुख-दुख से परे हो जाता है परम पद को प्राप्त कर लेता है। इस तरह के योगी ही अब हंस-हंस कर जगत का कल्याण मूलक कार्य कर सकता है। चूंकि चारों तरफ अब उसे उसी का सुंदर रूप नजर आ रहा है। चाहे नैन खुला हो या बंद। अब भाव चाह कर भी दूजा नहीं ला सकता है। दूसरा खा रहा है तो वह उसी के मुंह से खा रहा है। जो कुछ भी कर रहा है परमात्मा भाव, सेवा भाव, कल्याण भाव है। जहां भी जा रहा है, वही परिक्रमा है। मन निरंतर ही 'स्व' में लगा रहता है। मन का अब लगना भी नहीं कहा जा सकता है, सहज हो गया है।

इस तरह का योगी साधारण मनुष्य से हजारों गुना ज्यादा क्षमता से कार्य करता है। परंतु कहीं भी उसकी पकड़ नहीं होती। जैसे जनक, कृष्ण, कबीर, नानक इत्यादि।

यह काल योगी के लिए अत्यंत ही आश्चर्य का होता है। इस विदेहावस्था परम वैराग्यावस्था का भान मात्र उस स्थिति में पहुंच कर ही किया जा सकता है। अन्यथा साधारण श्रोता के लिए मात्र कल्पना ही रह जाता है। वेद व्यास जी भी इस अवस्था का 'स्व' में भान किए जो अत्यंत ही सहज था। यथा—

''अन्धो मणिमविध्यतम नङ्गुलिरायत्।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुण्चतमजिह्वोऽभ्य पूजयत्॥''

यानी अंधे ने मणियों को बींधा है। जरा आप सोचें अंधा मणि को कैसे पहचान सकता है। यदि किसी के कहने से पहचान भी लिए तो उसमें छिद्र कैसे कर सकता है। मणि को छेदना कोई साधारण बात नहीं है। यह अपने आप में आश्चर्य है। आगे कहते हैं बिना अंगुली वालों ने उसमें धागा पिरोया। आप पुनः जरा ध्यान से सुने, बिना अंगुली का तो हाथ ही नहीं होता। परंतु इस मणि को मानो बिना अंगुली वाला ही धागा पिरोया है ऐसा ही भान करता है। माला ग्रीवा रहित गले में डाली गई। बिना गले के माला कैसे डाली जा सकती है ?

जिह्वा रहित ने उसकी प्रशंसा की। वेद व्यास जी का अनुभव सब अपने आप में आश्चर्य में डाल देता है। अभी तक तो कुछ संभव था। परंतु आगे कहे

कि वह मणियों की माला भी उस पुरुष के गले में डाल दिया, जिसके पास गला ही नहीं है। यह कैसे हो सकता है। यदि गला नहीं तो माला डालोगे कहां ? तथा किसी तरह डाल भी दिया तो उसकी प्रशंसा कौन करेगा ? जिसके पास जिह्वा नहीं है। जिह्वा रहित ने ही उस परम पुरुष की प्रशंसा की। इसी से उपनिषद वेद इसे नेति-नेति कह दिया। चूंकि यहां आनंद अनुभव वर्णन किया नहीं जा सकता। यदि किसी भी तरह किया गया तो सर्वसाधारण के लिए अतिशयोक्ति हो जाता है। या हास्यास्पद हो जाता है।

जब भी साधक इस स्थिति में पहुंच कर निर्विचार हो जाता है। परम शून्य को उपलब्ध हो जाता है। तो महापुरुष की भांति जगत कार्य करने के लिए जगत का भला करने के लिए, उसको कुछ नीचे उतरना पड़ता है। नीचे के शरीर में करुणावश आकर आपका हित कर जाता है। उसमें भी अपना हित नहीं समझता वह तो पुन्यापुण्य से अलग हो जाता है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं—

"भोगहु भोग युक्ति जनि भुल हूं।
जोग जुगति तन साधहु हो॥",

साधक को अब साधना भी नहीं है। अब तो योग युक्त है। चूंकि एक बार मन की मित्रता हो गई या वह महा समुद्र में छलांग लगा ही गया। तो कैसे कर सकता है, अलग अपनी पहचान ? उससे तो अस्तित्व का गांठ पड़ गया। सद्गुरु कबीर ही कहते हैं—

"मनुआ मीत मित्रइओ न छोड़े
कबहु गांठि नहिं खोले हो॥"

अब गांठ खोलना भी असंभव है। यह परम योगी सिद्ध साधक इन्हीं स्थितियों में रहकर जगत का कार्य निष्पादन करते हैं।

सहज़ योग की दूसरी पद्धति—

यह जरूरी नहीं है कि एक ही साधना हर व्यक्ति के लिए हितकर एवं उपयुक्त हो इसीलिए झेन महात्मा अपने शिष्यों से कहते हैं कि यह जरूरी नहीं कि मेरे द्वारा बताया गया उपदेश ही तुम्हारे लिए ठीक हो। तुम वहां भी जा सकते हो। जहां हमारे मत का खण्डन होता है। हमारी शिकायत, निंदा होती है, हो सकता है वह ही तुम्हारे लिए हितकर हो जाए। या हो सकता है हम दोनों से मिलकर जो बनता है वही तुम्हारे लिए हितकर हो जाए। या यह भी हो सकता है हम दोनों को काट कर जो बचता है वह तुम्हारे लिए

हितकर हो जाए। बुद्ध पुरुष कभी बांधते नहीं, वे तो बंधन मुक्त होते हैं। हमारे संप्रदाय, मजहब, तथाकथित धर्म गुरु बांध देते हैं। बच्चे के जन्म लेते ही हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, जैन इत्यादि में बांध देते हैं। बच्चे को बच्चा नहीं रहने देते, उन्हें भ्रम रहता है कि कहीं बड़ा होकर इन बंधनों से बाहर न निकल जाए। अतएव जन्म लेते ही बांधने का उपाय शुरू हो जाता है। सब मजहब अपने को श्रेष्ठ साबित करने में ही व्यस्त हैं। भले ही उनमें श्रेष्ठता का अंकुरण हुआ हो या नहीं। अहंकार का, द्वेष का, घृणा का तो बीज बोने में अवश्य सफल हो जाते हैं। शांति के लिए लोग युद्ध तक करते है। इसमें भी बड़ा मजा है, कहते है शांति के लिए करते हैं युद्ध। मोहम्मद की तलवार पर यह वचन खुदा हुआ था–

"शांति ही मेरा धर्म है।" इतना ही नहीं उन्होंने अपने धर्म का भी नाम दिया **'इस्लाम'** यानी शांति का धर्म। परंतु इस्लाम ने जितनी अशांति फैलाई शायद किसी ने भी नहीं फैलाई हो। जोर-जबरदस्ती तलवार के बल पर करोड़ों-करोड़ों लोगों पर यह धर्म थोपा गया है। इस्लाम औरतों को संपत्ति मानता है। अभी पूरे विश्व में जहां-जहां इस्लाम है, लगभग वहां-वहां ही आतंकवाद है। ये आतंकवाद का दूसरा रूप ही बन गए हैं। हिंदू भी अपने को सहिष्णु कहते हैं, परंतु जितना इन्होंने शूद्रों को सताया दुनिया में शायद ही किसी ने किसी को सताया होगा। एक भी राम, एक भी भगवान शूद्र में पैदा नहीं हुआ। एक तरफ परमात्मा को सर्वव्यापी कण-कण में बताया। परमात्मा स्वरूप ही सबको देखा। क्या उस कण में शूद्र एवं औरतें नहीं आतीं ? औरतों को तो नरक का द्वार तक कह दिए। बुद्ध का पहला जब पहला दिवा निर्वाण को, बुद्धत्व को उपलब्ध हुए। जिस दिन वृक्ष के नीचे बैठे-शांत निर्विचार जाग कर अपने को, स्व को देखा। देखते ही मन ठहर गया, समझ ठहर गया, विस्तार लुप्त हो गया। जैसे अचानक आकाश से बादल विदा हो गए। सूरज निकल आए। गहन मौन, सन्नाटा और तत्क्षण उसने देखा आकाश से फूल बरसने लगे। तत्क्षण सहज हो गया। तो आएं हम भी सहज होने के लिए आगे बढ़ें। सब कुछ पहले से है, अर्थात्–

"नर के संग सुवा हरि बोले।
हरि प्रताप न जाने॥
जो कबहु उडि जाए जंगल में।
तो हरि सुरत न आने।

जैन धर्म अपने को अत्यंत उदार मानता है। जैन कहता है, 'तुम शरीर नहीं हो आत्मा हो।' वहीं दूसरी तरफ जैन धर्म की मान्यता है कि स्त्री का मोक्ष

होता ही नहीं। मोक्ष लेना होगा तो पुरुष का ही शरीर धारण करना होगा। क्या आत्मा भी स्त्री-पुरुष का अलग-अलग है। एक तरफ आत्मा की बातें करते हैं दूसरी तरफ शरीर पर ही अटक गए।

दूसरी तरफ हिंदू लोग गाय के मूत्र को अमृत कह दिए। गाय का मूत्र, गोबर, दूध, दही, घी मिलाकर पंचामृत बना दिया। इसकी महानता का भी पुराणों में वर्णन कर दिया गया। क्या विडंबना है ? गाय के मल-मूत्र से भी शूद्र गए गुजरे हैं। औरतों की भी स्थिति वही है। हिंदू शास्त्र कहते हैं नारी ज्ञान, ध्यान एवं वैराग्य का नाश कर देती है। सीधे नरक भेज देती है क्योंकि वह नरक का द्वार ही तो है।

जिनमें भी अपने मत का आग्रह होता है, वे मतवाले होते हैं। मतवालों की बात न ही यथार्थ है न ही विश्वसनीय।

"मतवादी जानै नहीं, तत्वादी की बात।
सूरज उगा अम्लुवन, गिन्नै अंधेरी रात॥"

कोई भी संप्रदाय किसी से पीछे नहीं है। सिख लोग भी अपने नव गुरु के बाद गुरु बंद ही कर दिए। अब गुरु ग्रंथ साहब की पूजा अर्चना शुरू हो गई। क्या अब प्रतिभा का जन्म नहीं होगा ? निरंकारी अभी गुरु मानते हैं। तो सिख धर्म उसे बहिष्कार करता है। क्या अंतर है ? उधर मूर्ति पूजकों एवं इधर ग्रंथ पूजकों में, प्रकृति निरंतर विकास की तरफ बढ़ती है। आदमी निरंतर बदलता जा रहा है। आदमी जो सात वर्ष पहले था, वह अभी नहीं है। वैज्ञानिक कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति सात वर्ष में बदल जाते हैं। एक अणु-अणु बदल जाता है। सिख वहीं गुरु ग्रंथ साहब को पकड़ कर बैठे हैं। ये संप्रदाय वाद किसी को आगे देखने को कहता, किसी को पीछे को, किसी को ऊपर, किसी को नीचे। सभी 'स्व' से दूर विक्षिप्तावस्था में हैं। कोई अज्ञान में विक्षिप्त है तो कोई तथाकथित ज्ञान में।

मैं एक कहानी सुना हूं। यूनान में एक बहुत बड़ा ज्योतिषी था। उसका नक्षत्र, तारों, ग्रहों पर भविष्य के संबंध में बहुत बड़ा अध्ययन था। एक रात्रि वह तारों का अध्ययन करता हुआ चल रहा था। चलते-चलते नगर से बाहर निकल गया। ऊपर ही तारों पर नजर लगाए हुए था।

बाहर सुनसान जगह पर चला गया एवं चलते-चलते एक कुएं में गिर गया। जब कुएं में गिरा तो अब तारा भूल गया, अब किनारा खोज रहा था। कुछ काल के बाद मालूम हुआ कि गड्ढा है कुआं है। अतएव चिल्लाना शुरू किया। कौन सुनता ? वहां एक बुढ़िया खेत (अगोर) रखा रही थी। एक

झोंपड़ी में बैठी थी। आवाज सुनी कुएं तक गई एवं रस्सी नीचे लटका दी। किसी तरह ज्योतिषी बाहर निकला, बाहर निकलते ही वह बुढ़िया को धन्यवाद किया एवं कहां कि 'मैं एथेन्स का बहुत बड़ा ज्योतिषी हूं। तुम कल दिन में मेरे यहां आना। मेरा नाम पूछ लेना। एथेन्स का कोई आदमी मेरा घर बता देगा। हमारे यहां बहुत बड़े-बड़े लोग आते हैं। हजारों रुपये हमारी फीस है। बड़े-बड़े नेता, अधिकारियों की भीड़ रहती है। खैर, तू आ जाना, तुम्हारा भविष्य मुफ्त में बता देंगे। कोई फीस भी नहीं लेंगे। बुढ़िया कही ठीक है, धन्यवाद। मुझे अपना भविष्य नहीं जानना है। मैं तुम में भी अपने को ही देख रही हूं। तुम दूसरे का भविष्य बताते हो, अपने बारे में एक कदम आगे का नहीं जानता, तो इस तरह की भविष्य की पढ़ाई से क्या फायदा ? कहते हैं वह एथेन्स उसी दिन, उसी क्षण से ज्योतिषी का काम छोड़ दिया एवं बुढ़िया को झुक कर प्रणाम किया। कहा कि मां आज से तुम ही हमारी गुरु हो। वह ज्योतिषी तत्क्षण स्वर की खोज में अंतर्मुखी हो गया। अहंकार विदा हो गया। सहज हो गया।

यह क्षण हम सबके सामने हर समय आता है। यदि हम सीखना चाहते हैं तो एक नन्हे से बच्चे से भी सीख सकते हैं। पेड़ से, पर्वत से, झरने से, कहीं भी सीख सकते हैं। नहीं सीखना है तो कहीं नही सीखेंगे। हम विभिन्न संप्रदायों के शब्द जाल में फंसे ही रह जाएंगे। आप देखते हैं हजारों लोग मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, गिरिजाघर जा रहे हैं।

क्यों जा रहे है ? **वहां भी चाह है, वासना है, जहां चाह है, वासना है, वहां प्रार्थना नहीं है।**

काम की वासना की दुर्गंध में, अर्चना की सुगंध कैसे पैदा होगी ?

लाख धूप, दीप जलाओ—न होगी रोशनी, न होगी सुगंध। हो सकता है दुर्गंध को, अंधेरे को छिपा लेंगे, परंतु मिलेगा नहीं। यही हम धोखा जन्मों-जन्मों से करते आ रहे हैं। इस जन्म को सहजता से सहज योग में लगा दें। अभी नहीं तो फिर कभी नहीं।

विधि–

साधक गुरु के सान्निध्य में रहकर सबसे पहले अपना तर्क-वितर्क एवं कुतर्क को समाप्त करे। सोच ले अब कोई प्रश्न नहीं है। मात्र एक प्रश्न ही है जिसका उत्तर स्व के अंदर खोजना है। अब साधक को हद एवं बेहद की सीमा को पार करना है।

"हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध।
हद बेहद दोउ तजे, ताकर मता अगाध॥"

यदि साधक की स्थिति यह हो गई हो कि मानव एवं साधु दोनों की स्थिति को पार कर समाधि की तरफ बढ़ सकता है, तब तो ठीक है। अन्यथा गुरु क्या कर सकता है।

"गुरु बिचारा का करै; सिखहि माहि चूक॥"

कही भी चूक हो जाने पर बात नहीं बनेगी। साधक गुरु पर पूर्ण श्रद्धा विश्वास कर उसी के निर्देशों को समझकर सहज हो जाए।

साधक कही भी एकांत में बैठकर चिंतन करे, अंदर प्रवेश करें। बाह्य पदार्थो से मन को अवरुद्ध कर शुद्ध चित्त से चिंतन करे।

प्रथम—साधक चिंतन करे कि मैं अमर हूं। मैं ही एक हूं। अहम् ब्रह्मास्मि में ही परम तत्व हूं। मुझसे अलग कुछ भी नहीं है। जो भी बाहर जगत है। वह मुझसे ही निःसरित है वह मुझ में विलीन हो जाएगा, मैं तो संकल्प निर्विकार हूं, मेरी ही चेतन सत्ता पूरे जगत में व्याप्त है। इस तरह साधक को, संपूर्ण समुद्र को अपने में देखना है।

"बूंद जो परा समुद्र में, जो जानत सब कोय।
समुद्र समाना बूंद में, सो जानै विरला कोय॥"

ऐसा कोई विरला यानी एकाध ही साधक सक्षम होता है, जो पूरे समुद्र को ही, परम पिता परमात्मा को ही आह्वान कर ले अपने में। इसमें साधक केवल सुरति का सहारा ले। सुरति के सहारे उपरोक्त चिंतन करते हुए निर्विकार हो जाए।

द्वितीय चरण—साधक जब सोचता है मैं ही वह शुद्धात्मा हूं। मैं ही परम हूं। मैं ही पारब्रह्म हूं। जब इस तरह का दृष्टि पूरा हो जाता है तब वह चिंतन करता है कि ब्रह्म एवं 'हूं' या 'है', दो अलग-अलग नहीं है। या 'हूं' मात्र परमात्मा ही हो सकता है। इस तरह यह कहना या चिंतन करना, फिर परमात्मा हूं, यह परमात्मा का ही दोबार पुनावृत्ति है क्योंकि पहला आखिरी तो मात्र उसका ही अस्तित्व है। इस तरह मैं तो प्रकृति का प्रतीक एवं 'हूं' पूर्ण ब्रह्म चेतन का। इस तरह 'मैं' की 'नहीं' के साथ एवं 'हूं' की 'है' के साथ एकता है। हालांकि मैं के साथ संबंध होने से 'हूं' है। अगर मैं का संबंध छोड़ दें तो 'हूं' नहीं रहेगा। प्रतीत 'है' रहेगा वहीं जो परम तत्व है।

जब साधक अहम को पकड़े रहेगा तब 'अहम्' के संबंध से ही 'मैं, तू यह और वह उत्पन्न हो जाएगा। जबकि 'है' ही सबका प्रकाश है। एवं 'है' में ये चारों

नहीं है। इस अहम के नाश होते ही देश काल क्रिया अंतर्धान हो जाते है। 'है' सत् रह जाता है। साधक मौन हो जाएगा। समुद्र ही बूंद में मिल जाएगा। **साधक अक्रिय हो जाता है। अक्रिय से ही संसार उत्पन्न होता है। एवं उसी में विलीन हो जाता है। इस तरह साधक संसार की सहज स्वाभाविक तथा नित्य-निरंतर निवृत्ति है और परम तत्व की सहज स्वाभाविक तथा नित्य निरंतर प्राप्ति है। संसार की प्रतीत है प्राप्ति नहीं।** यही अवस्था सहजावस्था है। साधक पहचान लेता है या पा जाता है सहजावस्था को।

'सहज सहज सबही कहे, सहज न चीन्हे कोय।
जो सहजे साहिब मिले, सहज कहिजै सोय।।''

इस तरह साधक का समाधि ध्यान, कुण्डलिनी अनुभव, सबकी जिज्ञासा मर जाती है। वह स्वरूप में स्थित हो जाता है।

''सुन्न मरै, अजपा मरै, अनहद हूं मरि जाय।
राम स्नेही ना मरे कह कबीर समुझाय।।''

सिर्फ वही बचता है, जिससे द्वैत का कोई संबंध निर्मित नहीं होता। जिसके साथ दो का बोध नहीं होता। जरा इस पर ठीक से विचार करना होगा। 'सुन मरे, पर सुन्न होना चाहिए। अनहद होना चाहिए, अजपा होना चाहिए जो है ही नहीं, वह मरेगा क्या ? यानी इसी अनुभव में नहीं रुकना। वह तो होगा ही। योगभ्रष्ट का भी अर्थ यही है। समाधि तो मिल गई। लेकिन ध्यान तो आ गया, फिर ध्यान से आसक्ति हो गई अनासक्ति न रही। ऐसे ही व्यक्ति को योग भ्रष्ट कहते हैं, परंतु जब साधक इससे भी आगे राममय हो जाता है। तब वहां न भक्त रहता है, न भगवान।

'राम सनेही न मरै, कह कबीर समुझाया' अब न ही कोई पूजक है न कोई पूज्य। इस समय जो प्रेम की सरिता बहती है, दोनों कूलों का स्पर्श करते हुए, वह है राम स्नेही। वह मरता नहीं क्योंकि जो भी मर सकता था, सब पहले ही मर गया, सूक्ष्मतम अहंकार बचता है, न समाधि न ही चमत्कार। साधक पूर्ण खाली है या पूरी तरह खो गया। कोई भी रूपरेखा नहीं बची। न ही कोई चिन्ह छूटा सब परमात्मा तो है। 'या परमात्मा ही सब तरफ से घेर लेता है। इस तरह के साधक की स्थिति सद्गुरु कबीर के ही शब्दों में–

''जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप।
पहुपवास से पातरा, ऐसा तत्व अनूप।।
कथन श्रवण तह होते नहीं, गमनागमन भी नाहिं।
शून्या शून्य दोनों परे, दिल दरिया माहि।।

अब साधक पूर्णत्व को प्राप्त कर पूर्ण हो जाता है। उस रूप की व्याख्या अब उसके बस की नहीं रह जाती है। चूंकि रूप का ही वर्णन संभव है।

अरूप का वर्णन कैसे करेगा ? वहां न ही कथन है न ही श्रवण रह जाता है। यानी अनाहद नाद की भी गति समाप्त हो जाती है। अब तक तो साधक शून्य को साध रहा था। प्रकाश को साध रहा था। यदि प्रकाश को साध रहा है तो अंधेरा भी संभव है। प्रकाश और अंधेरा दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतएवं अब तो साधक प्रकाश एवं अंधेरे से भी मुक्त हो गया। शून्य-शून्य से भी मुक्त हो गया बिलकुल छलांग लगा गया। दोनों से पार चला गया। अब वह क्या करेगा ? अब तक तो कहता रहा। अब कहने की स्थिति में नहीं है। इस तरह बुद्ध पुरुष से आप प्रश्न करोगे। ईश्वर है या नहीं ? तो क्या उत्तर देगा ? वह तो असमर्थ हो जाएगा। यह प्रश्न भी उसके साथ में करना नादानी है। जैसे प्रकाश से ही कोई नादान पूछे—प्रकाश है या नहीं ? प्रकाश क्या उत्तर दे। उत्तर तो वही दे सकता है जो नहीं देखा। नहीं पहचाना, नहीं जाना, अंधकार ही कह सकता है कि प्रकाश है, या यह भी कह सकता है, क्या बकवास की बात करता है प्रकाश भी कुछ होता है। मेरी (अंधकार) अनुपस्थिति ही प्रकाश समझ लो। समझने वाले इशारे मात्र से समझ सकते हैं। नहीं समझने वाले नहीं ही समझेंगे। चाहे आप किसी भी तरह समझा लें। कोई शक्कर खाया हो। दूसरा पूछता है शक्कर कैसा है। क्या कह सकता है। मात्र किसी तरह इशारा कर सकता है। मीठा है। कितना मीठा है ? कैसे बताएगा ? उसी तरह 'विज्ञ' पुरुष परम पुरुष के बारे में इशारा मात्र कर सकता है। इसी से कबीर साहब कहते हैं—

जाने सो कहै नहीं, कहै सो अनजान।

परमात्मा के बारे में अब व्याख्या वही दे सकता है जो बिलकुल कोरा हो। अनजान हो। पुस्तकों को रट लिया हो, सुगा के तरह या पीठ पर विद्वत्ता ढो रहा हो गधे की तरह।

यह योगी तो अब उसका साक्षात्कार कर लिया। अब अपने को अलग उसको अलग भी नहीं कह सकता न ही दो का भान रख सकता। कैसे रखेगा ? उसके लिए असंभव है। हां, स्वामी राम इसी से साक्षी भाव से अपने को देखते थे। कहते थे। स्वामी राम प्यासा है। इसे पानी दो, कोई पत्थर मारता कोई गाली देता तो हंसते थे। कोई व्यक्ति पूछता क्या बात है, स्वामी जी। राम को लोग पत्थर मार रहे हैं। स्वामी राम को लोग गाली दे रहे हैं। बिलकुल ही साक्षी भाव था। वे द्रष्टा की तरह देख रहे थे। करुणावश यह योगी जब कुछ कहना चाहता तो उसे अत्यंत



मूलाधार चक्र











कठिनाई महसूस होती। वैसे किसी प्रकार पांचवें शरीर पर लौटना पड़ता है। चूंकि उस शरीर में कुछ कह ही नहीं सकते। वह तो बिलकुल सत् शरीर है, सत् भी इंगित ही कर सकता है। आप जरा यों सोचें जो बूंद समुद्र में मिल गई कैसे अपने अस्तित्व को अलग रखेगी। अलग रखेगी तो वह मिली नहीं। इस अवस्था में जिया जा सकता है। हुआ जा सकता है। जाना सकता है। इसी अवस्था के योगी को आप अवतार कहते हैं। ईश्वर कहते हैं। आप जो चाहे कहें। ये शब्द इंगित करते हैं, वैसे व्यक्तियों की तरफ जो मन को छलांग लगा गए हैं। मन के पार जा चुके हैं। अन्य साधकों के लिए या जगत के लिए करुणावश वे पांचवें शरीर में लौटकर ही कुछ उपदेश देते हैं। सच्ची बात कह देते हैं। जो प्रत्यक्ष देखें है अनुभव किए हैं। भले ही आपके पुराण से मिले या नहीं, वे परवाह नहीं करते। अब बेपरवाह हो गए हैं। भले आप आलोचना करो, कहो यह तो कहीं लिखा ही नहीं। ये तो मस्त-दिवाने होते हैं। अपने ब्रह्म में रंग के रंगे दीवाने।

''लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।''

कुण्डलिनी और चक्र–

जब साधक प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत करता है, तो उसे एक अद्भुत अनुभव होता है। वह अनुभव किसी भी बाह्य अनुभव से मेल नहीं खाएगा उस समय साधक ज्यादा से ज्यादा मौन रहे। गुरु के साथ भी मौन सत-संग करे। जब भी साधक का ध्यान केंद्रित नहीं होता हो एवं बहिर्मुख हो जाता है तो गुरु के साकार रूप का ध्यान करे तत्पश्चात मन के केंद्रित होते ही गुरु के नख का ध्यान करे। इस तरह साधक अपने गंतव्य स्थल की तरफ आगे बढ़ जाए। इससे साधक को बाह्य बाधाओं से बचने में आसानी होती है। प्राणायाम के द्वारा इंगला एवं पिंगला के श्वास-प्रश्वास एवं कुंभक से सुषुम्ना अपने आप चलने लगती है। साधक को यह जान लेना श्रेयस्कर होगा कि सारा का सारा अनुभव एवं कुण्डलिनी का जागरण तभी होता है जब श्वास सुषुम्ना में पहुंचता है। इस समय मालूम होता है कि बहुत धीरे-धीरे दोनों श्वास चलता है या रुक सा गया है। बाएं श्वास यानी चंद्र स्वर या गंगा इड़ा इत्यादि नामों से जाना जाता है। इसमें सावित्री एवं ब्रह्मा का निवास है। दायां स्वर, सूर्य स्वर पिंगला जमुना या पुरुष का प्रतीक है। इसमें विष्णु एवं लक्ष्मी का निवास माना गया है।

सुषुम्ना नाड़ी–

इसे नपुंसक का अंश कहा गया है। यही सरस्वती भी कही जाती है। इसे

कबीर साहब राहू भी कहते थे। जो चंद्र एवं सूर्य नाड़ी को ग्रास करा लेती है।

"नितै अमावस नित ग्रहण होई, राह ग्रासे नित दीजै"

तब ही यह स्वयं धीरे-धीरे चलने लगती है। जिससे साधक इसी के माध्यम से अपने गंतव्य तक पहुंचता है। इसमें महादेव एवं पार्वती का निवास माना गया है। साधक इस नाड़ी में प्रवेश अत्यंत सावधानी से गुरु के निर्देशन पर करे। जब यह नाड़ी चलने लगती है तो कुण्डलिनी अपने आप जाग्रत हो जाती है। अपने आप ही दैवी गुणों का समावेश हो जाता है। तब साधक 'बिन पढ़े, वकै पुरुणा' की स्थिति में पहुंच जाता है। इस नाड़ी के बंद होने पर साधक मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इससे इसे खुद का रूप प्रलयंकार भी कहा जाता है। इससे साधक बिना इसे छेड़छाड़ किए प्रश्वासों के माध्यम से ही इसमें सहजावस्था में प्रवेश करें। इसमें प्रवेश करते ही साधक का ध्यान लग जाता है तथा ध्येय तक पहुंचने में सफल हो जाता है। साधक के सारे प्राणायाम का फलाफल यही है कि वह सुषुम्ना में निर्विघ्न पहुंच जाए।

कुण्डलिनी–

सुषुम्ना नाड़ी के निचले भाग पर कुण्डलिनी साढ़े तीन फेरा मारकर अपनी पूंछ अपने ही मुंह में डालकर सोई हुई है। साधक प्रथम इसे पूर्ण ऊर्जा प्रकाश के रूप में देखता है। कुछ काल के बाद जब यह कुण्डलिनी जाग्रत होती है तब साधक के लिए यह प्रकाश, ओज, आवाज, दृश्य, अनुभव सब असाध्य होने लगता है। साथ ही अब साधक भीतर बाहर से बिलकुल बदला हुआ होता है। अब साधक अंतर्मुखी यात्रा शुरू करता है। अब यही कुण्डलिनी उर्द्धगति से ऊपर की तरफ चलती है तो साधक आनंद का अनुभव भी कर सकता है। कुण्डलिनी एक ऐसी आग है, जिसके जागते ही शरीर के सारे कचरे जल जाते है। मांस, खून, मज्जा जो भी जरूरत से ज्यादा है। सब जल जाता है। यह एक अत्यंत तेज इलेक्ट्रिक फोर्स है। जिसमें क्रोध, लोभ भी जल जाता है। शरीर में रहता है वही, जिसकी शरीर को जरूरत हो, साधना की जरूरत हो। कुण्डलिनी के हिलने मात्र से वासना भड़क उठती है। इस समय साधक अतिकामी, क्रोधी, लोभी हो सकता है। चूंकि यह ऊर्जा के जन्मों-जन्म के अधोमुख का परिचायक है। ऐसी स्थिति में गुरु सान्निध्य की अति आवश्यकता है।

मूलाधार चक्र–कुण्डलिनी उर्ध्वगति से ऊपर चलती है। पहला चक्र है मूलाधार। यह गुदा स्थान से दो अंगुल ऊपर है जिसमें चार दल कमल हैं। इसका रंग लाल है इन कमल दलों पर व, श, ष, स में ही चार अक्षर हैं।

मूलाधार चक्र



वं

मं लं शं

षं

देव स्थान—इसके मध्य में गणेश जी ऋद्धि एवं सिद्धि के साथ बैठे हैं। लवणा सागर भी यही है। चंद्रमा भी अपनी पत्नी रोहिणी के साथ यहीं है। 27 (सत्ताईस) नक्षत्रों का वास भी इसी चक्र में है। इसके पूरब दल पर इंद्र शची के साथ है। दक्षिण दल पर यमराज अपनी पत्नी के साथ तथा उत्तर दल पर कुबेर एवं चित्रपुरी है। साधक अपनी आध्यात्मिक यात्रा में ध्यान के द्वारा सब कुछ देख सकता है।

मानसिक पूजा—साधक गुरु आज्ञा लेकर सबसे पहले गणेश जी का षोड्स विधि मानसिक पूजन करे। तत्पश्चात उनकी पत्नी ऋद्धि एवं सिद्धि की एवं वाहन मूषक की भी। गणेश जी को लड्डू का ही भोग लगाना श्रेयस्कर होता है। तत्पश्चात गणेश जी का ही आदेश प्राप्त कर साधक कुबेरपुरी या चंद्रपुरी, यमपुरी का दर्शन कर सकता है। जिस लोक में साधक भ्रमण करता है। वहां के देवता का षोडस विधि से पूजन कर उनका आदेश प्राप्त कर उनके द्वारा अधिकृत देवता के साथ ही व लोक घूमा जा सकता है। जो भी पुराणों में वर्णन यमपुरी या कुबेरपुरी का मिलता है, वह सब साधक सहज ही घूमकर देख सकता है। इसी से कबीर साहब कहते हैं—

बिन पढ़ै बकै पुराना।

इतना ही नहीं आगे कहते हैं—

'बैठे पंडित पढ़ै पुराना, बिन देखे का करे बखाना। बाहर नीरख बड़ पंडित होई, लखे बचन सत्य सम होई।' आद्या या आदि शक्ति भी यही है। यही विद्या का भण्डार है तथा वाणी का विकास भी यहीं से होता है। चौरासी लाख नाड़ियों का संयोजन यहीं पर होता है। इसी से चौरासी लाख योनियों का खजाना भी यहीं है। सारी नाड़ियां यहीं जुटती हैं। इसी से गुणों के ईश 'गणेश' यहीं विराजमान हैं। गणेश की पूजा संसार में भी पहले इसी से होती है। इंगला-पिंगला एवं सुषुम्ना का संयोजन भी यहीं होता है। अब साधक को आसानी से समझ में आ गया होगा कि जिस सिद्धि के लिए मांत्रिक तांत्रिक तथा प्रेतादि साधक जन्मों गंवा देते हैं। वह सब इस पथ के साधक को सहज ही प्रथम चरण में ही उपलब्ध हो जाता है।

भौतिक शरीर (Physical Body)—साधक को यह समझ लेना है कि जैसे सात चक्र हैं ठीक उसी तरह सात शरीर भी हैं। मूलाधार चक्र से ही चक्र भेदन क्रिया आरंभ होती है। जिस-जिस चक्र पर कुण्डलिनी आती है। साधक उसी के अनुरूप शरीर धारण करता है एवं योग्यता में, भाव में, विचार में उसकी स्थिति में भी तद्नुरूप बदलाहट प्रारंभ हो जाती है। प्रकृति

के द्वारा उपलब्ध काम केंद्र (Sex centre) यहीं है। दक्ष प्रजापति भी यहीं रहते हैं। अतएव मन का निवास भी यही रहता है। अतएव जीव यहीं से सृष्टि का काम करता रहता है। मन यहीं पर पाप-पुण्य में फंस जाता है। चूंकि यौवन शक्ति का केंद्र यहीं है। मन इसी से इसी में फंसा इसके इर्द-गिर्द घूमता रहता है। मन अपने अधोगति के रास्ते यहीं पर फंस जाता है। जो जन्मों जन्म तक यहां से मुक्त नहीं होता है, वह कहलाता है 'ब्रह्मचर्य' साधक न ही काम के दमन से ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होता है ना ही काम के दलदल में फंस कर। ध्यान के द्वारा ही काम का रूपातंरण संभव है। जब काम का रूपांतरण होता है तब मन ध्यान के साथ उर्द्धगति से ऊपर की तरफ चल देता है। जब मन ऊपर की तरफ चलता है तो इसकी अनंत संभावनाएं बनती हैं। यह अनंत तक जाने में सक्षम हो जाता है। साधक के लिए काम का दमन उतना ही खतरनाक है जितना काम में फंस जाना। दोनों ही समान हैं। दोनों ही भौतिक शरीर तक ही सीमित हैं। अतएव साधक को जब अनंत की यात्रा करनी होगी तो उसे इन दोनों से ऊपर ब्रह्मचर्य अवस्था को प्राप्त करना ही होगा। यह अवस्था भी ध्यान से सहज ही उपलब्ध हो जाती है। भौतिक शरीर है अतएव यहां थोड़ी भी असावधानी हुई, दमन हुआ तो साधक का काम बदसूरत कर देगा। अतएव हर हालत में इसका रूपांतरण ही सुंदरतम ब्रह्मचर्य हो सकता है।

परिणाम—इस चक्र पर ध्यान मात्र से मन आनंदित हो जाता है। सारे रोग-कष्ट स्वतः समाप्त होने लगते हैं। काव्य लेखन क्षमता का स्वतः विकास हो जाता है।

स्वाधिष्ठान चक्र—(Hypogastric plexus) यह चक्र मूलाधार चक्र के ऊपर तथा नाभि से ठीक लगभग 6 अंगुल नीचे है। मूलाधार चक्र से दो अंगुल ऊपर है। इसका रंग पीत है।

यह 6 दल कमल है।

देव स्थान—इस चक्र के मध्य में स्वयम् ब्रह्मा सरस्वती के साथ बैठे हैं। यहीं मधुर सागर भी है। छः दल कमल पर य, र, ल, व, भ, म, में ही 6 अक्षर हैं। यहां से उत्पन्न होते हैं।

य—ब्रह्मा यहीं से सृष्टि की रचना करते हैं। दक्ष प्रजापति यहीं रहते हैं। वसंत ऋतु यहीं रहता है। यहां परम सुंदर एवं सुहावना दृश्य रहता है।

र—यह अग्नि का बीज मंत्र भी है। अग्नि रहती है। ग्रीष्म ऋतु भी यहीं है। रमण राम, राम यही से रमण करता है।

स्वाधिष्ठान चक्र





लं बं

रं वं भं

यं मं

ल—यह पृथ्वी तत्व का बीज है। यहां इंद्र देवता रहते हैं। यहीं से इंद्रलोक का संचालन करते हैं। वर्षा ऋतु भी यहीं है।

व—यह आकाश तत्व का बीज है। शिशिर ऋतु यहीं रहती है। ब्रह्मपुरी का भाव भी यहीं से उत्पन्न होना है।

भ—शरद ऋतु यहीं रहती है। मन में भ्रम यहीं से पैदा होता है।

म—हेमंत ऋतु यहां रहती है। यहां माया महल है अतएव मोह माया यहीं रहते हैं। र कार यानी जब जीव सत्याकार हो जाता है तब म कार आनंद रूप अपने आप उपलब्ध हो जाता है।

मानसिक पूजा—साधक ध्यान द्वारा जब इस चक्र में पहुंचता है तब यहां का सारा अलौकिक स्वरूप दृष्टिगत होने लगता है। अक्सर साधक के 6 से 11 हजार श्वासों में जाप से कुण्डलिनी यहां पहुंच जाती है। प्रत्येक श्वास से सत्नाम के सहारे सुरत को लेकर पहुंचने पर ऐसा हो जाता है। ऊपर बताए गए तरीके से साधक सबसे पहले ब्रह्मा एवं सरस्वती का मानसिक षोडश विधि से पूजन कर, वस्त्र, भोग अर्पण करे। तत्पश्चात ब्रह्मा से सविनय निवेदन लेकर ही अन्य दल पर भ्रमण हेतु प्रस्थान करे। जिस द्वार पर पहुंचे वहां के द्वारपाल से भी सविनय प्रार्थना कर ही द्वार खोलने का आग्रह कर साधक उसके देवता का पूजन कर उस लोक का भ्रमण करे। साधक जो भी पुराण में पढ़ा है सब स्पष्ट दिखाई देने लगता है। यह शरीर ऐसा जो बाह्य आंखों से दिखाई नहीं पड़ता परंतु परिणाम आता है।

भाव शरीर—(Ethric Body) स्वाधिष्ठान चक्र में कुण्डलिनी के पहुंचने पर साधक का शरीर भी बदलता है। जिसे भाव शरीर भी कहते हैं। इस चक्र पर प्राकृतिक रूप से मिली संभावना का रूपांतरण भी स्वतः होने लगता है। इस चक्र की प्राकृतिक संभावना है—भय, क्रोध, हिंसा, घृणा। या तो इसी में फंस कर रह जाता है। या ब्रह्मचर्य की तरह इसका भी दमन कर सकता है। भयभीत है। परंतु निर्भय का नाटक करता है। क्रोध से भरा है परंतु शांति की चादर ऊपर से ओढ़ रहा है। जो अत्यंत खतरनाक है। साधक को हर हालत में दमन का दामन नहीं पकड़ कर रूपांतरण का सहारा लेना ही श्रेयस्कर है। यह रूपांतरण ही अत्यंत पवित्रतम है। जो साधक के चेहरे से स्वतः ही परिलक्षित होता है। यथा ये प्रेम, करुणा, अभय एवं मैत्री में बदल जाते हैं। तब कोई उपाय ही नहीं बचता है कि क्रोध करे, घृणा करे। यह शरीर ऐसा है जो आंखों से दिखाई नहीं पड़ता, परंतु परिणाम दिखाई अवश्य पड़ता है जैसे एटमिक एनर्जी पदार्थ तो दिखाई पड़ता हैं। परंतु पदार्थ को ज्यों ही तोड़ते हैं इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन, न्यूट्रॉन में तो ऊर्जा मात्र रहती है। विद्युत ऊर्जा पदार्थ नहीं। अब

वैज्ञानिक कहते हैं कि अगर ऊर्जा तीव्र गति से घूमती है तो हमको पदार्थ मालूम होती है। आज का वैज्ञानिक जिस एटमिक एनर्जी (परमाणु ऊर्जा) पर ही विश्व का विस्तार मान रहा है उस ऊर्जा को हम देख नहीं सकते। उसके परिणाम को ही देख सकते हैं। साधक की सारी खोज अपने अंतर की है, परिणाम अंतर एवं बाहर दोनों का संभव है।

परिणाम—इस शरीर में पहुंचने पर साधक अपने को प्रेम से परिपूर्ण पाता है। अब उसमें घृणा रहती ही नहीं। इस स्थिति में भय भी भूलकर निर्भय को प्राप्त कर लेता है। जिससे साधक के आश्रम में बकरी एवं शेर भी निर्भय होकर प्रेम के साथ रहने लगते हैं। पशु-पक्षी उनके आस-पास निर्भय होकर स्वच्छंद विचरण करते हैं। उनके नजदीक सब जीव निर्भय हो जाते हैं। वह व्यक्ति अब किसी की हिंसा कर ही नहीं सकता। अहिंसक उसका स्वतः गुण हो जाता है। इस चक्र का साधक न काहू से दोस्ती ना काहू से बैर की स्थिति में रहता है। जिह्वा पर सरस्वती देवी का आगमन हो जाता है। अतएव अब वह जो कुछ बोलता है वह वेद ऋचा हो जाता है।

मणिपुर चक्र (Epigastric-Plexus)

इसका स्थान नाभि भाग है। यहां दशदल कमल है। ये रंग में धूम्र है। साधक यहां 10 हजार से 15 हजार श्वासों का सत्‌नाम (गुरु से प्राप्त मंत्र) के जाप के साथ पहुंच जाता है।

देवस्थान—इसके मध्य भाग में भगवान विष्णु लक्ष्मी के साथ बैठे हैं। यहीं बैकुण्ठपुरी भी है। वरुण भी यहीं है। यहां क्षीर सागर है। यहां पर दस अक्षर दस दल कमल पर है यथा—ण, ढ़, त, थ, द, ध, न, प, फ इन दसों दलों पर भगवान विष्णु के दस पार्षद रहते हैं। शब्द कोश भी यहीं है। दस वायु भी यही हैं। दसों द्वारों का संबंध भी यहां से है।

मानसिक पूजा—साधक की जब कुण्डलिनी यहां पहुंचती है तब सबसे पहले भगवान विष्णु लक्ष्मी सहित स्वागत करते हैं। साधक को अत्यंत आनंद का अनुभव होता है। अतएव साधक को भी विष्णु का पांचों उपचार, षोडसो उपचार या बत्तीसों उपचार से पूजा करना चाहिए। यह मानसिक पूजा गुरु से सीख लें।

नोट—साधक किसी भी देवता या देव पुरुष से प्रश्न न करे। मात्र उनका दर्शन प्रार्थना एवं आसन भोग लगाकर उस लोक का भ्रमण करे। दसों दलों पर युक्ति ढंग से घूम सकता है। भगवान विष्णु यहीं से पूरी सृष्टि का भरण पोषण करते हैं। शरीर के प्रत्येक भाग का पोषण भी यहीं से होता है।

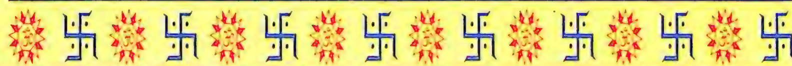




स्वाधिष्ठान चक्र






Vc133r8c





मणिपुर चक्र







मणिपुर चक्र





फं डं
पं ढं
नं णं
धं तं
दं थं

रं

सूक्ष्म शरीर—(Astrol-Body) साधक तर्क-वितर्क करने लगता है। दस दल कमल है अतएव—

दस द्वारों का पिंजरा जामें पक्षी पवन।
रहवे को अचरज है, जात अचंभा कौन।।

रहने जाने का आश्चर्य है। संदेह विचार का सागर है। जब तक साधक संदेह विचार पर रुका रहेगा, आगे नहीं जा सकता, न ही कोई अनुभव संभव है। इसे भी दमन नहीं करना रूपांतरण श्रद्धा में कर लेना है। विचार का रूपांतरण विवेक में। अतएव संदेह भी अत्यंत आवश्यक है। गुरु जन कहते हैं। संदेह मत करो, विश्वास कर लो संदेह दब जाएगा। विश्वास भी नहीं आएगा। परंतु जिस दिन संदेह पर संदेह हो जाएगा उस दिन श्रद्धा अपने आप आ जाएगी। विचार की भी यही स्थिति है, गुरु जन कहते हैं। विचार छोड़ दो चुप रहो। होता है उल्टा। ऊपर से मौन अंदर से विचार का दौर शुरू होता है। साधक बार-बार दबाता है। वह कुरूप होता जाता है। जिस दिन विचार पर विचार करता है। उस दिन वह उपलब्ध होता है विवेक को। श्रद्धा एवं विवेक बहुत ही कीमती पुष्प है। जो स्वतः आते हैं। इसे लाने का कोई प्रयास कारगर नहीं होगा।

विज्ञान इस शरीर तक अभी नहीं पहुंचा है। चूंकि अभी वह पदार्थ (एटम) को ही तोड़ सकता है। अब ईथर प्राप्त हो गया है। यदि विज्ञान ईथर को तोड़ सके तब कहीं संभव है एस्ट्राल बॉडी में प्रवेश कर सके। परंतु यह भी विज्ञान के लिए संभव नहीं है।

परिणाम—साधक अपान वायु का दमन करते हैं। इसी वायु के माध्यम से सुमेरू गिरि पर चढ़ने का रास्ता है। पांच वायु या ब्रह्माण्ड यथा नाग—श्वास-प्रश्वास लेना, कुर्म—आंख खोलना, बंद करना, क्रीर्कल—जम्हाई लेना, देवदत्त—कान से सुनना, धनंजय—शरीर को बढ़ाना, फुलाना, कमजोर करना। जब साधक शेष वायु को धनंजय में विलीन कर लेता है तब शारीरिक क्रियाएं शिथिल हो जाती हैं। इस तरह योगी ब्रह्माण्ड (ब्रह्मरंध्र) से इस वायु को भी निकाल कर शरीर से उसी तरह मुक्त हो जाता है, जैसे कोई कपड़े से। इस चक्र पर पहुंचे साधक की मानस शक्ति अत्यंत ही प्रबल हो जाती है। मानसिक शक्ति से प्राकृतिक वस्तुओं को पा लेता है। दुःसाध्य एवं अलौकिक कार्य कर लेता है। जाते हुए ट्रेन, जहाज को रोक देता है। सामने के या दूरस्थ व्यक्ति के मन की बात को जान लेता है। दूर श्रवण, दूर दृष्टि अपने आप आ जाती है।

सूक्ष्म शरीर ग्रहण करना—इस शरीर में पहुंचे साधक अपना शरीर

अपनी कुटिया या आश्रम में रखकर दूरस्थ जगह पर दूसरे शरीर में पहुंच जाता है। एवं अपने शिष्य का भला कर सकता है। यह आमतौर पर सुनने में आता है कि एक आदमी अमुक-अमुक जगह पर एक साथ प्रकट हो गया। यानी साधक जितना ही सूक्ष्म शरीर में पहुंचता है। उसका मन उतना ही अंदर जाता है। जितना ही मन बहिर्मुख होता है, उसकी उतनी शक्ति कम हो जाती है। सारा का सारा खेल मन के अंतर्मुख पर ही है।

इसी शरीर के माध्यम से देवता एवं प्रेत इच्छानुसार शरीर धारण कर लेते हैं। इनका फोटो तो आ सकता है। परंतु छाया नहीं आती। चूंकि यह ईथर शरीर को बहुत ही कंडेंस कर लेते हैं। इस तरह जब बहुत ही संघनीभूत कर लेता है। यानी दूर-दूर के अणु खिसक कर करीब आ जाते हैं। जिससे एक आकार प्रतीत होने लगता है। परंतु यह फोटो भी बहुत ही सेंसिटिव फोटो प्लेट से ही पकड़ में आता है। अभी इस तरह का छाया पश्चिम में बहुत लिया गया है, जो नग्न आंख से नहीं देखा जा सकता है।

यह साधक पर निर्भर करता है कि किस मात्रा में अंतर्यात्रा करता है। ठीक उसी के अनुरूप सूक्ष्म से सूक्ष्म जगत का अधिकारी बन सकता है।

अनाहद चक्र (Cardiac-Plexus)

यह चक्र चतुर्थ सीढ़ी है। यह हृदय के पास है। इसका रंग पीत है। यह पीत भी अलग-अलग भासता है। इसे साधक स्वयम् देख कर ही अनुभव करे। यह 12 दल कमल है।

देवस्थान—द्वादश दल कमल के मध्य में भगवान शिव पार्वती के साथ निवास करते हैं। इस चक्र पर षट्कोणाकार धूम्र पीत यंत्र बनता है। यहां संजीवनी या सुरा सागर है। साधक को 12 हजार श्वास जापों पर कुण्डलिनी यहां पहुंचती है। यहां अलग-अलग पंखुड़ियों पर अलग-अलग बारह अक्षर हैं। या उत्पन्न होते हैं। यथा—कं, खं, गं, घं, ड़ं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ढं, यहां 12 हड्डियां भी हैं। साधक ध्यान से एक अक्षर का उच्चारण कर अनुभव करे तो अलग-अलग 12 हड्डियों पर जोर पड़ता है। एवं वहां उसका स्थान अनुभव करता है। (चार हड्डी बाएं से ऊपर की ओर क, ख, ग, घ, एवं चार हड्डी दाएं से ऊपर की छ, ज, झ, ञ, तथा दो बाएं से नीचे की ओर—च, छ तथा दो दाएं से नीचे की ओर दो हड्डी ट, ढ, जाती हैं)

मन का स्थान—मणिपुर चक्र एवं अनाहद चक्र के मध्य में एक आठ दल कमल है। यहां का अधिपति मन है।

अनाहत चक्र



















अनाहत चक्र







अष्ट दल कमल सूझै, योगी आप आप में बूझै॥

इसी को मानस चक्र भी कहते हैं। यहीं से अजपा-जाप सोहम् की घड़ी चलती है। यह घड़ी जब बच्चा मां के गर्भ में तीन माह का होता है, तब ही चालू हो जाती है। जब साधक इस घड़ी को प्रथम बार देखता है तो शरीर कंपायमान हो जाता है। धीरे-धीरे गुरु कृपा एवं साधक के प्रयास से ठीक हो जाता है।

मन इन्हीं आठ दलों पर पांच-पांच मकान विभिन्न पांचों तत्वों का बनाया है। प्रत्येक घर में मन एक-एक घंटा रहता है। जिस दल में जिस तत्व के घर में रहता है। इसी के अनुसार कार्य करता है। 'दल मंह भूमि, भूमि मंह पानी, पानी मंह अनल, अनल मंह वायु का डेरा।'

तत्त्व मंह मन रहे लुकाई।
घूमि शरीर मंह रहे दर्शाई॥

यथा–

पूरब दल–यह अग्नि अंगार की तरह लाल वर्ण है। सुबह सूर्योदय के समय मन यहीं रहता है। पृथ्वी तत्व में 140 श्वास जल तत्व में जलमुखी लग्न, 90 श्वास व्याल लग्न, 60 श्वास वायु तत्व, केतकी लग्न, पुनः 30 श्वास-शून्य आकाश तत्व में, शुभ करेंगे। पुनः इसी तरह, 30, 60, 90 पर चढ़ते जाएंगे। यहां पूजा-पाठ ध्यान, जाप, शुभ व संकल्प लेता है।

अग्नि कोण–यह भी अग्नि सदृश्य है। यहां पर जब मन आता है तब सांसारिक कार्य सोचने एवं करने को उद्यत हो जाता है। व्यावहारिक कार्य भी यहीं से करता है। मन क्रमशः नीचे की तरफ उतरने लगता है। धन कमाने, धन अर्जन करने के नाना प्रकार के विचार करता है। उसी की युक्ति करने लगता है। तदनुरूप शरीर को भी करने को बाध्य करता है।

नैर्ऋत्य दिशा–अब मन-धन अर्जन करने हेतु दूरस्थ जाने को सोचता है, विचार करता है। सलाह लेता है एवं जाने को उद्यत होता या जाता है।

पश्चिम दिशा–मन सांसारिकता में अत्यंत लिप्त हो जाता है। धन के लिए अत्यंत व्याकुल हो जाता है। सब चिंतन धन पर ही केंद्रित हो जाता है। क्या करे कि शीघ्र धन लाभ हो। संभवतः इसी से पश्चिम के लोग धन को उपलब्ध हुए क्या ?

वायव्य दिशा–इस पर मन धन के लिए अत्यंत चिंतित नहीं होता, परंतु यदि ठीक से लगाम नहीं लगता बुद्धि से तो धन के लालच में यह किसी भी तरह का कार्य कर बैठता है। उस समय कार्य गौण होता है। धन ही प्रधान होता है।

ईशान दिशा—यहां जब मन आता है तब अपने प्रभुत्व पर विचार करता है। चाहे किसी भी तरह समाज में हमारा स्वामित्व हो जाए। यहां भी कार्य गौण होता जाता है। एवं प्रभुत्व ही श्रेष्ठ हो जाता है। जब साधक बुद्धि रूपी लगाम ठीक नहीं रखता तो प्रभुत्व की दौड़ में कुछ भी कर देता है। संभवतः आज के नेता अधिकारी इसी प्रभुत्व की दौड़ में कुछ भी करने से नहीं हिचकते।

उत्तर दिशा—यहां मन पर बुद्धि उचित लगाम लगाकर उसे उचित-अनुचित सोचने को बाध्य करती है। यदि साधक इतना समय दिया तब मन यहां पहुंचकर इस पर निर्णय करता है। यहां मन सब सलाहकारों से मंत्रणा करता है। क्या शुभ है ? क्या अशुभ है ? कैसे हम धन एवं पद प्रतिष्ठा को उपलब्ध होंगे, कौन-सी कला है कि किसी का नुकसान भी नहीं हो। मेरा फायदा ही फायदा हो। मन सलाह देकर निर्णय करता है। तब इसके अनुसार भविष्य का निर्माण करता है। मन यहां निर्णय करता है। मन यहां से सद् असद कार्य का निर्णय करता है। कार्य करने को नियमबद्ध भी करता है।

इस तरह मन हर दल के पांचों महल पर विभिन्न तरह का कार्य करता है तथा सबका हिसाब इस दल के आकाश तत्व में लेता है।

मन जितना ही सोचेगा, संकल्प लेगा, उतना ही कार्य करना होगा। उसके लिए चाहे जितना ही जन्म लेना पड़े। जब मन इन संकल्पों का क्षय करता है। तब वह शांति को उपलब्ध होता है। यथा—

क्षयो संकल्प, जालस्य, जीवों ब्रह्मत्व मा पुन्यात।

जब मन संकल्प के जाल का क्षय करता है। तब मन मुक्त हो जाता है। अर्थात ब्रह्म पद को उपलब्ध हो जाता है।

मानसिक पूजा—शिव एवं पार्वती का जब साधक दर्शन करता है तब मन अत्यंत प्रसन्न हो जाता है।

शिव-शक्ति का जब भया मेला, मनवा बड़ा हरखाना।

साधक मानसिक रूप से पांचों उपचार, शोड़सो उपचार एवं बत्तीसों उपचार से भगवान शिव एवं पार्वती का पूजन करे। बगल में बैल एवं पार्वती का वाहन शेर भी साथ बैठे हैं। बिना किसी वैर भाव के। साधक इनका भी पूजन करे।

खीर-खाड़ शिव, भोजन करही।
जेहि लखे योगी मन अनुसरही।।

साधक शिव पार्वती के योग्य आसन-वसन, खान-पान सबकी व्यवस्था मन से ही करे। उसी तरह से वाहन की भी। इस तरह साधक भगवान शंकर

के किसी गण से सविनय प्रार्थना पूर्वक किसी भी दल पर घूमने का आग्रह कर सकता है। यदि भगवान शंकर साधक से प्रसन्न हैं तब ही गण आपको किसी चक्र पर घूमने की अनुमति दे सकता है। या स्वयं पथ प्रदर्शक बन आपके साथ जा सकता है। साधक जिस भी दल पर जाए उसके द्वारपाल को भी दण्ड-प्रणाम श्रद्धा पूर्वक करे, पूजन करे एवं आग्रह पूर्वक घूमने की अनुमति ले। क्योंकि बिना आज्ञा के घूमना भी निषिद्ध है एवं एक प्रकार का हिंसा होगी। चक्र के दलों पर बैठा भी देवता ही है। किसी न किसी रूप में वह शिव लोक का निवासी भी है। अतएव हर हालत में पूज्य है। साधक का मन जब तक एकाग्र रहेगा, उस चक्र के किसी दल पर घूमकर वहां का दर्शन कर सकता है।

मानस शरीर (Mental Body)

साधक जब चौथे चक्र में पहुंचता है। तब वह चौथे शरीर को भी उपलब्ध होता है जिसे मानस शरीर कहते हैं। इसकी भी प्राकृतिक रूप से दो संभावनाएं हैं। यथा—कल्पना (इमेजिनेशन), स्वप्न (ड्रीमिंग)।

साधक को हर स्टेयर (सीढ़ी) के अनुसार यहां की कल्पना एवं सपना का रूपांतरण करना है। रूपांतरण का फल ही श्रेष्ठतम होता है। अभी तक मठों में बैठे गुरु कहते हैं बैठे-बैठे कल्पना करते हैं। एवं सोने पर सपना देखते हैं। इसे दमन करो। जैसे सपने दमन किए वैसे ही दमन की प्रवृत्ति को आगे बढ़ाते हैं। जिससे साधक कुरूप हो जाता है। उसके भविष्य की सारी संभावना मर जाती है। ध्यान करने से ही वह कल्पना-संकल्प में बदल जाती है। विल में बदल जाती है। सपना भी इसी तरह अतिंद्रिय दर्शन या विजन में रूपांतरित हो जाता है। यह रूपांतरण साधक के लिए अत्यंत श्रेष्ठतम है। अब साधक सपना नहीं देखता दूरस्थ की किसी भी चीज को देख लेता है। अब साधक कल्पना ही नहीं करता संकल्प मात्र से दूरस्थ के किसी कार्य को कर लेता है। सद्गुरु कबीर साहब काशी से ही दक्षिण भारत के अपने भक्त की झोंपड़ी में लगी आग बुझा दिए। यह यही संकल्प की साधना है।

संकल्प—प्रत्यक्ष घटना बीस वर्ष पहले की ही घटना है। मैं अपने गुरुद्वारे में था। रात्रि में चौका आरती हो रही थी। यह भी एक प्रकार का यज्ञ है। इसके बाद लगभग डेढ़ बजे रात्रि के गुरुदेव आचार्य राम विलास जी साहब जी से बातें कर रहे थे। सब महात्माओं की विदाई 4 बजे प्रभात तक ही कर दी जाए। मैं भी सम्मुख गुरु आदेश की प्रतीक्षा कर रहा था। गरमी का दिन था सैकड़ों लोग आश्रम (बरईपुर) उ.प्र. के छत पर सोए थे। नीचे बहुत-सा डेरा शामियाना

एवं झोपड़ियां बनी थीं। अलग-अलग साधु, महंत, संन्यासी ठहरे थे। तब एक छत पर एक महंत के सिर पर उन्हीं का दुश्मन साधु (जो उनसे केस वगैरह) लड़ रहा था। अच्छा अवसर देख मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा दिया। आग जोरों से एकाएक जल उठी, भगदड़ मच गई। मैं किंकर्तव्यमूढ़ गुरुदेव को देख रहा था। चारों तरफ 'आग-आग' 'बचाओ-बचाओ' लोग चिल्लाने लगे। गुरुदेव का चेहरा एकाएक लाल हो गया। मुझसे बोले, देखते क्या हो ? साहिब (सर्व समर्थ परमात्मा) से बोलो यह क्या कर दिया ? मेरे मुंह से भी आदेश पाकर यही निकला साहिब क्या कर रहे हो ? गुरुदेव का चेहरा शांत था एवं आंखें आग पर थीं। बस क्या पूछना था, एकाएक आग बुझ गई। सब अवाक थे। आचार्य श्री राम विलास साहिब गुरुदेव के मुंह पर देखकर बोले, स्वामी जी आप धन्य हो। आप तो परमहंस हो, सिद्ध हो। आपके देखने मात्र से आग बुझ गई। आपका यह शिष्य भी आपका ही रूप होगा, इत्यादि। यही कल्पना संकल्प बन गया एवं सपना अतिंद्रिय बन गया।

इस शरीर में पहुंचे साधक के लिए समय (टाइम) एवं दूरी (स्पेस) समाप्त हो जाती है। यही वजह है कि आज के वैज्ञानिक इस शरीर की संभावना के पीछे ज्यादा लगे हैं। टेलीपैथी की खोज भी 30 से 40 वर्षों में बहुत ज्यादा हुई है। अमेरिका एवं रूस दोनों देश हजारों मील दूर बैठे लोगों को इस टेलीपैथी के माध्यम से संदेश भेज रहे हैं एवं पकड़ रहे हैं। वे सोचते हैं रॉकेट छोड़ रहे हैं ऊपर, बहुत कुछ करने पर भी कंप्यूटर, रेडियो खराब हो ही जाता है, परंतु इस तरह के यदि आदमी ही उपलब्ध हो जाएं तो संदेश आसानी से पकड़ा जा सकता है एवं बचाव कार्य भी संभव है। अतएव अभी वैज्ञानिक इस कार्य पर बहुत जोर दे रहे हैं।

यह घटना सन–1980 की है। दूसरी घटना मैं अपनी ही दूंगा "गुरु का संदेश"

गुरु देव काशी हिंदू विश्वविद्यालय के अस्पताल में भरती थे। उनके शिष्य गण एवं महात्मा गण मना करने पर भी अस्पताल में लेकर चले गए। वे कह रहे थे शरीर का परित्याग करने को। परंतु शिष्यगण को शरीर से मोह था, अतएव अपना कर्तव्य समझकर सेवा की भावना से अस्पताल में भरती कर दिए। डॉक्टर लोग भी इलाज करने लगे। अधिकांश शिष्य उनके दर्शन के लिए पहुंच गए। एक महात्मा, जो अभी भी हैं, गीता का पाठ सुना रहे थे। मैं उस समय वहां से 300 कि॰मी॰ दूर पटना में था। एकाएक दिन के 10 बजे गुरु देव का ध्यान आया। वे नजर आए कि बीमार हैं एवं हमें बुला रहे हैं। यह भी

दृश्य चलते-चलते देखा कि वे अमुक अस्पताल में हैं। मैंने गाड़ी पकड़ी (सियालदाह एक्सप्रेस) एवं पहुंच गया किसी तरह यानी यंत्रवत अस्पताल में। मैं नीचे के दरवाजे पर ही था कि गुरु देव ने एक शिष्य को कहा देखो कृष्णानंद आ गया है। उसे ले आओ। दो चार महात्मा कौतूहल जानकर नीचे आए। मुझे देखकर हैरान हो गए। वे बोले कि गुरु देव आप को आज सुबह से ही याद कर रहे हैं। मैं गया, सप्रेम चरण स्पर्श किया। प्रेम से आंसू आ गए। गुरु देव सोए थे। सैकड़ों लोग घेरे थे। जय गुरु देव, जय गुरु देव कह रहे थे। मैं पहुंचा कि वे बोले क्या कृष्णानंद आ गया ? मैं प्रेम पूर्ण बोला, हां आ गया गुरुदेव ! वे बोले, क्या पूछना है ? मैं उत्तर दिया नहीं, मुझे कुछ भी पूछना नहीं है। वे बोले, देखो न हजारों नेत्रों वाला व्यक्ति हमें प्रार्थना कर रहा है। कह रहा है गुरुदेव अब चलो। मैं तुम्हारे लिए रुका था क्या करूं ? मेरे मुंह से निकल गया अभी नहीं गुरुदेव, एकाध भक्त अभी नहीं आए हैं, आ जाने दीजिए। उन्होंने कहा, कल आ जाएगा। ठीक है। कल जी। मानो किसी अदृश्य शक्ति को आदेशित किए। पुनः गीता पढ़ने वाले (महात्मा श्री बामनानंद जी) को धीरे से इंगित किए अशुद्ध मत पढ़ो। वे महात्मा भी हत्प्रभ हो गए—क्या गुरु देव पूर्ण चेतनावस्था में हैं ? क्या पूरा का पूरा सुन रहे हैं ? हां, हमारा तो ध्यान था कि मैं केवल पढ़ रहा हूं, वे सब सुन समझ नहीं रहे हैं। अतएव गलती पर विचार ही नहीं किया। वे श्रद्धा से झुक गए एवं अब सप्रेम पढ़ने लगे। डॉक्टरों का दल आया एवं खून जांच कर बोला कि गुरुदेव को खून देना होगा एवं इनका खून विजातीय है। मैं तुरंत कहा, हमारा खून जांच करो। संयोग से मेरा भी खून वही निकल आया। मैंने जीवन में प्रथम बार गुरुदेव के लिए खून अर्पित कर अपना सौभाग्य समझा। खून चढ़ाने के दिन यानी दूसरे दिन पुनः वरिष्ठ डॉक्टरों द्वारा गुरुदेव का खून जांच किया कि आज चढ़ा दिया जाए। इधर मैं उनके नजदीक बैठा था। वे बोले, अब तो महात्मा श्रीदास जी आ गए न जी। मैं बोला, जी हां गुरुदेव आपके सामने खड़े हैं। वे पुनः बोले, डॉक्टरों को मना करो। देखो सारे देवता आ गए। बंदगी कर रहे हैं। प्रार्थना कर रहे हैं। अब मुझे चलने दो। तब एक डॉक्टर आकर बोले, गजब हो गया। गुरु देव का खून आज बदल गया। आज जांच में निगेटिव आ गया। यह खून अब मिलेगा भी नहीं। क्या करूं। मैंने कहा आप स्वयम् पूछ लें। वे कहे कि मैं अपना सेवा का कर्तव्य करूंगा ही। उनको शरीर से मोह नहीं है। हमें मोह है सेवा का अवसर है, इसे कैसे बरबाद करूं ? तब तक गुरु देव बोले, तुम सब भजन करो एवं बैठ गए। एक बार सबको गौर से देखा तथा मुझे देखकर बोले अब चल रहा

हूं। एका-एक बिछावन पर गिर गए। डॉक्टर ऑक्सीजन लेकर खड़े ही थे। नाड़ी टटोलते रहे। गुरु देव सदा के लिए समाधिस्थ हो गए। मैं यह चर्चा प्रसंग वश कर दिया।

उनके पार्थिव शरीर को आश्रम पर लाया गया। जहां साधु संन्यासियों ने स्वागत किया। गंगा में स्नान कराकर विधिवत पूजा अर्चना आ॰ गंगाशरण शास्त्री के नेतृत्व में किया गया। संध्या 6 बजे उनको समाधि दी गई। तब तक उनके चेहरे पर ज्योति भरपूर पर हाथ-पैर सभी मोम की तरह मुलायम थे। समाधि के समय आश्रम का भाग छोड़कर चारों तरफ मूसलधार वृष्टि हुई। मानो देवता गण इंद्र के साथ स्वयं स्वागत के लिए आए हैं। परंतु आश्रम में एक बूंद भी पानी नहीं पड़ा। हजारों भक्तों की भीड़ थी। मैं अपने जीवन में प्रथम बार फफक कर रो पड़ा था।

समाधि–

अक्सर जो भी व्यक्ति मरते हैं हम उन्हें तत्काल जला देते हैं। क्योंकि शरीर से जैसे ही उनकी आत्मा निकलती है, मोहवश उसके आस-पास भटकती रहती है। परंतु संन्यासी की आत्मा जिंदा अवस्था में ही शरीर से मुक्त हो चुकी होती है। शरीर के बंधन में नहीं के बराबर है। अतएव उसके शरीर को हम नहीं जलाते, उसे हम समाधि देते हैं। क्योंकि वह 30 या 40 वर्षों तक ऐसे शरीर में रहा है जहां वह विचार मुक्त हो गया है। उसका शरीर हजारों वर्षों तक उसी तरह की पवित्र तरंगों को विकीर्ण करता रहेगा। यही उसकी समाधि होगी। उससे संन्यासी को कोई अंतर नहीं पड़ता। अंतर पड़ता है साधक को। जो साधक उसके इर्द-गिर्द साधना करता है। अच्छा परिणाम होता है। अच्छे फूल खिलते हैं। जैसे आज वैज्ञानिक कहते हैं कि किसी पौधे के नजदीक प्रेम पूर्वक संगीत गाया जाए, तो वह पौधा जल्द ही तैयार हो जाता है। तुरंत फल देने लगता है। ठीक उसी तरह उसके नजदीक साधक जल्द ही ध्यान को उपलब्ध हो जाता है। खास संगीत भजन का प्रभाव पेड़-पौधे एवं पशु पर भी पड़ता है। आप गाय रखें प्रेम पूर्वक भजन गाएं। गाय को मां कहकर संबोधन करें। प्यार करें। श्रद्धा करें। देखें दूध बढ़ जाएगा एवं सुखद होगा। यदि आप उसे प्रताड़ित करें, गाली दें, मारें या बुरा संगीत सुनाएं, खाना नहीं दें, देखें दूध घट जाएगा। स्वाद भी बदल जाएगा। संभवतः यही कारण है कि भारत के मनीषी गाय को मां कहे, स्तुति किए। तब वह कामधेनु बन जाती है। इस शरीर की संभावनाएं अनंत हैं।

आप गुरु देव के समाधि मंदिर पर बैठकर ध्यान करें, आपका श्रद्धा-प्रेम शीघ्र ही आपकी अंतिम मंजिल तक पहुंचने में मदद करेगी। एक बार मुख्य न्यायमूर्ति श्री बनवारी लाल यादव हमसे मिलने इस आश्रम पर आए थे। वे अच्छे साधक एवं विद्वान भी थे। वे समाधि मंदिर पर कुछ देर ध्यान कर मेरे पास आए। वे आश्चर्य व्यक्त करते हुए बोले कि इतनी जाग्रत समाधि तो मैंने नहीं देखा। पूरे भारत का भ्रमण किया। यहां बैठने मात्र से मैं समाधि में चला गया। यह स्थान साधकों के लिए अति उत्तम है। यहां पर की गई साधना तत्क्षण फलित होगी।

परिणाम—साधक इस चक्र पर ध्यान जितना चाहे कर सकता है। मात्र संकल्प लेता है। शंकर जी 88 हजार वर्ष की समाधि लेते थे। यानी किसी एक कमलदल पर भ्रमण कर रहे हैं। बाह्य शरीर की क्रिया रुक जाती है। बाहर से शरीर जैसे है वैसा ही ज्यों का त्यों पड़ा रह जाएगा। उसी से इस अवस्था को उम्र में नहीं गिना जाता है। शरीर में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

सोहम् की घड़ी बंद होने पर साधक शरीर छोड़ देता है। भगवान शंकर भी यहीं से सृष्टि का संहार करते हैं। इस शरीर का विस्तार मन एवं ध्यान से ही देखा जा सकता है। इसका वर्णन स्वयंभू मन भी नहीं कर सकता।

साधक शंकर के तुल्य हो जाता है। बाह्य जगत से बिलकुल ही मौन-सा होने लगता है। संसार का कार्य करते हुए भी अलग रहता है। प्रकृति की शक्ति उसमें समाहित होने लगती है। शरीर तेज से भरा रहता है। अंदर-अंदर योगी पूर्ण चेतन रहने लगता है। इस शरीर के साधक को खतरा भी उतना ही बढ़ जाता है। ज्योंही साधक बहिर्मुख होता है। गुरु खड़ा करता है। बाह्य दुनिया में चमत्कार करना शुरू कर देता है। उस साधक के लिए यह शरीर आत्मघाती भी साबित हो सकता है। अतएव साधक गुरु के सान्निध्य (मानसिक रूप से) में रहकर इस चक्र को पार करे। इस चक्र पर रुका हुआ साधक भटक जाता है अतएव हर हाल में इसे पार कर अगले चक्र में पहुंच जाए। जब तक इस चक्र में है पूर्णतः अंतर्मौन रहे।

चौथे चक्र की विशेषता—प्रकृति निरंतर भौतिक शरीर का विकास करती रहती है। उसी के अनुरूप उसकी मन, बुद्धि, चित्तवृति भी विकास की तरफ बढ़ती जाती हैं। जन्म के साथ ही प्रकृति सारी संभावनाओं को बीज रूप में रख छोड़ती है। जो विकास के क्रम में क्रमबद्ध रूप से विकसित होती जाती हैं। हमारे मनीषीगण इसीलिए वर्णाश्रम व्यवस्था दिए थे। जिसे आज के तथाकथित महात्मा-संन्यासी ठीक से नहीं समझ पाए। व्यक्ति जब जन्म लेता

है, प्रथम सात वर्ष उसके भौतिक शरीर का ही विकास होता है। इस अवस्था में बच्चा अनुकरण करता है। अनुकरण पशु भी करता है। इस तरह सात वर्ष के बच्चे एवं पशु में कोई खास अंतर नहीं होता है। इस अवस्था के बच्चे में अपनी कोई भावना, बुद्धि नहीं होती है। इसी से 7 वर्ष तक के बच्चे निर्दोष होते हैं। उन्हें कहीं भी दंड नहीं दिया जाता। यह शरीर जीभ तक ही रुक जाता है। खाने-पीने स्वाद लेने तक ही रुक जाता है।

7 वर्ष से 14 वर्ष—यह अवस्था दूसरे चक्र एवं शरीर की हो जाती है। यानी भाव शरीर या आकाश शरीर का निर्माण प्रकृति करने लगती है। इस अवस्था में प्रकृति यौवन शक्ति का विकास कर देती है, भावना का विकास कर देती है। बहुत लोग मृत्यु पर्यंत इसी शरीर पर रुके रह जाते हैं। उनका शरीर तो बढ़ता जाता है परंतु मन काम वासना से मुक्त नहीं होता। यही चिन्ह है इसी शरीर पर रुक जाने का। यह शरीर काम, कविता, नाटक, संगीत, सिनेमा, मकान, गाड़ी, घर इत्यादि वासना तक रुक जाता है। बड़े-बड़े साहित्यकार, नाटककार, कवि, अभियंता, डॉक्टर, इसी शरीर में रुक कर संसार में अपनी ख्याति अर्जित करते हैं। संसारी लोग इन्हें उच्चकोटि के संत गिनते हैं। इनको भी उच्चता का भ्रम हो जाता है। हंसना रोना, गाना या विभिन्न प्रकार की मुद्रा में संगीतज्ञ इसी शरीर में भाव-विभोर होकर प्रवाहित हो जाते हैं।

14 से 21 वर्ष का समय—यह अवस्था है तीसरे शरीर पर पहुंच जाने की। तीसरा शरीर है सूक्ष्म शरीर। इस शरीर में व्यक्ति का विचार, बुद्धि, तर्क-वितर्क का विकास होता है। इसी अवस्था में बच्चा शिक्षा ग्रहण करता है। सुसांस्कृतिक एवं सभ्य बनता है। संभवतः इसी से इसी उम्र सीमा को दुनिया में मताधिकार का अधिकार दिया गया है। हालांकि विचार की पूर्ण परिपक्वता 21 वर्ष तक ही आती है। इससे पहले 18 वर्ष पर भी आ जाती है। यह निर्भर करता है बच्चे की सामाजिक एवं प्राकृतिक परिस्थिति पर। तीसरा शरीर अत्यंत महत्वपूर्ण है। लगभग अस्सी प्रतिशत लोग इसी शरीर तक मरते वक्त तक रुके रह जाते हैं। आगे के शरीर में पहुंच ही नहीं पाते। परंतु यह शरीर किसी भी समाज के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। जब समाज में ऐसे शरीर के व्यक्ति की बहुलता होती है तभी अति मानव या बुद्धत्व का आगमन होता है। जैसे कबीर, नानक, सूर, तुलसी, मीरा जैसी सैकड़ों प्रतिभाएं लगभग समकक्ष ही हुई। यानी समाज में उस समय तीसरे शरीर के व्यक्ति की बहुलता थी।

इस शरीर के तार्किक अपने को अवतार, पीर, पैगंबर तक होने का वहम

कर लेते हैं। अपने को श्रेष्ठ साबित करने में उनकी तर्क शाक्ति काम करती है। अपने तर्क से अपने को एवं समाज को भ्रम में डाल देते हैं। यदि गुरु निर्देशन है तब यही शरीर विकास के क्रम में आगे जाता है। वह चौथे शरीर में प्रवेश करता है।

21 से 28 वर्ष—यह शरीर अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। इसी से हमारे यहां 25 वर्ष ब्रह्मचर्य का प्रावधान था। जिससे साधारण मनुष्य भी चौथे शरीर तक पहुंच जाए। बाकी तीन शरीर आगे हम कर लेंगे। चौथे शरीर मानस शरीर का व्यक्ति ही कुछ कर सकने में समर्थ है। बिना कहीं गए, बिना कुछ देखे, बिना कुछ पढ़े, बिना कुछ सुने, सब कुछ देख लेता, पढ़ लेता है। समझ लेता है। यह व्यक्ति जो भी निर्णय लेगा, पावन होगा। जो भी सोचेगा, सहज होगा यानी यहां निजी दुनिया ही समाप्त हो जाती है। यहां करुणा अपने आप आ ही जाती है। जितनी भी योग शास्त्रों में सिद्धियां हैं वह लगभग ज्यादा इसी मानस शरीर की हैं। जैसे कि प्रत्येक चक्र के साथ व्यक्ति में आमूल परिवर्तन होता है। उसी तरह इस शरीर का आदमी किसी भी तरह का मादक द्रव्य नहीं ग्रहण कर सकता। इस शरीर में अपने आप चरित्र रूपी व्रत के फूल खिलने लगते हैं। इस तरह इस शरीर में बहुत ही कम लोग पहुंच पाते हैं। यह शरीर लगभग 28 वर्ष तक का है। यह शरीर संसार के किसी भी काम को सहजतापूर्ण ढंग से पूर्ण कर लेता है। लेकिन इस समय संयम से काम लेना ही उचित है। यह शरीर उत्तरायण एवं दक्षिणायन का संगम बिंदु है।

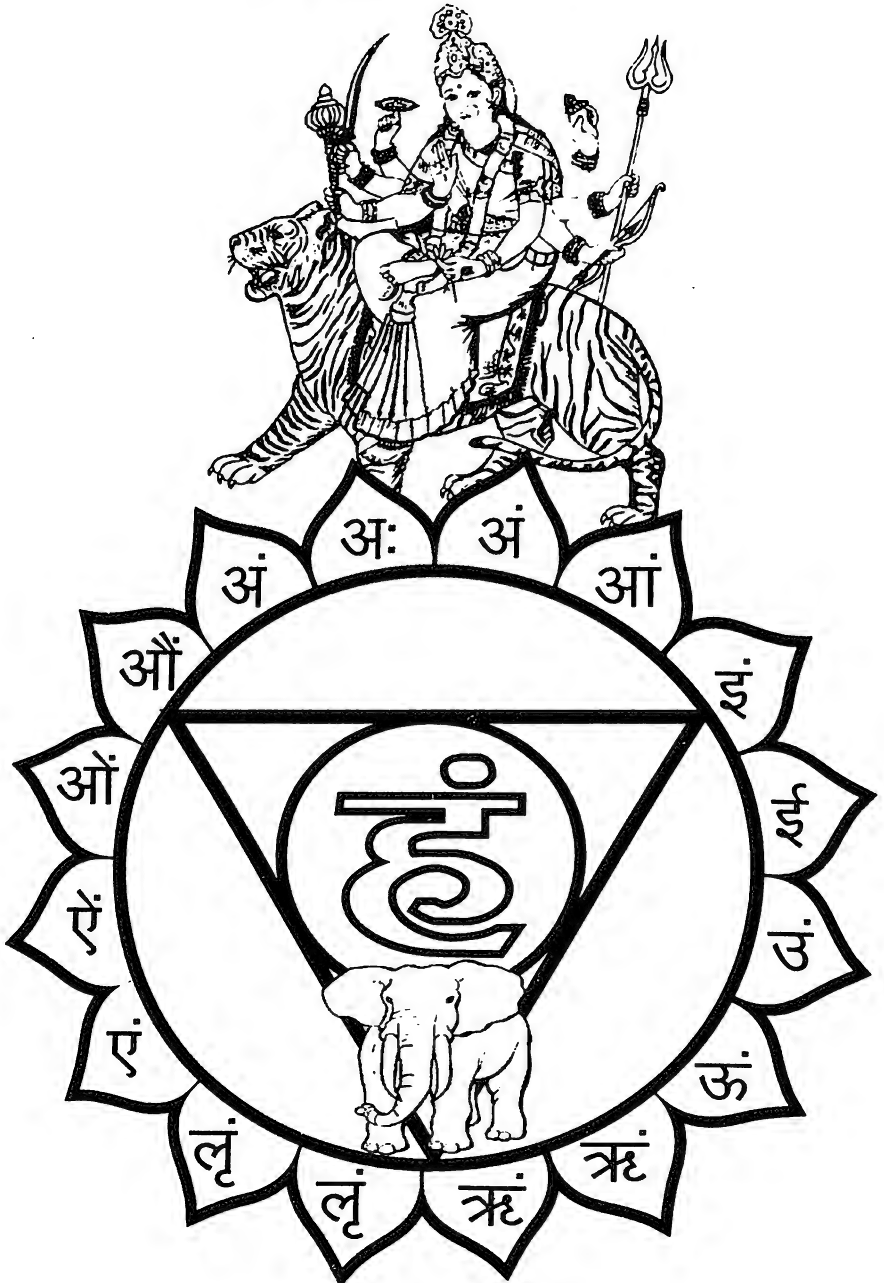
विशुद्ध चक्र (Cartotid-Plexus)–

यह कंठ भाग में है। यह 16 (सोलह) दल कमल है। यह बिलकुल शुभ श्वेत रंग का है। यही दधि सागर है। यहां साधक 10 (दस) हजार श्वासों के जाप पर पहुंच जाता है।

देवस्थान—इस दल की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है। योगी लोग इसे, हठी, देवी, परमात्मा या शाकिनी भी कहते हैं। यहां पूर्ण चंद्र सदृश्य गोला यंत्र बनता है। सोलह दल पर 16 स्वर अक्षर हैं जो क्रमशः दाएं से बाएं के तरफ—यथा—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः हैं।

यहां के देवता भारती हैं। ये 36 व्यंजनों को, जो अन्य चक्रों में हैं। 16 स्वर हैं, हर समय भरते रहते हैं। इसी से इसे भारती देवता कहते हैं। कंठ की 16 हड्डियां मिलती हैं। साधक एकांत में बैठकर धीरे-धीरे अ, आ का स्वर

विशुद्ध चक्र



उच्चारण करते तो स्पष्ट मालूम होगा इनका स्थान। उच्चारण में इन हड्डियों पर बल पड़ता है। इसी से कहा है—'यह तन हाट सितारों का।' यहां 16 स्वर हैं। प्रत्येक से 4-4 कला विद्या में उत्पन्न होती हैं। इस तरह 64 कला विद्या यहीं से उत्पन्न होती हैं।

कंठ से ऊपर तालु में 64 दल कमल हैं। जहां सद्गुरु का भी निवास बताया गया है।

चौंसठ दल सो उज्ज्वल वरना, तारू मध्य रहे अध हरना।
तहां इसे सत्गुरु गोरा, अमृत खाय लिए मेह कोरा॥

इस तरह इसे अमृत दल भी कहते हैं। यहां से निरंतर अमृत की वर्षा होती रहती है। साधक गुरु कृपा से पान करता रहता है। सत्गुरु शरीर छोड़ने या मृत्यु के 3 (तीन) घंटा पहले इस जगह का परित्याग कर देते हैं।

शक्ति सहित जबै तन छोड़ो, तब यम जीव अह ते काठे।

यहीं पर ब्रह्ममय शरीर भी होता है। शोडस दल पर चंद्रमा का भी निवास स्थान है। इसी से सभी दल को शशि रूप कहा गया है।

मानसिक पूजा—साधक पूर्वोक्त ढंग से यहां भी मां स्वरूप शुभ आदि शक्ति का पूजन करे। इनके लिए मन से ही सफेद साड़ी, चूड़ी, चादर, आसन, वसन, फूल-माला इत्यादि मांग कर, देवी को अर्पित करे। साधक यहां भी पांचों, शोडसों, बत्तीसों उपचार से मां देवी का पूजन करे। पूजन कर भोग लगावे। आरती करवा, आचमन करवा, यथा स्थान विराजमान करे। यहां ही उनका हंस भी रहता है। उसका भी पूजन अर्चन करे। तब भारती देवता का करे! ये राजा के सदृश्य मौन रहते हैं। इनका भी पूजन उसी तरह करे। सबके पूजन के बाद साधक अन्य दलों का भ्रमण कर सकता है। देवी से पहले आग्रह करके किसी देव दूत को साथ ले लें। जिस भी लोक में जाए वहां के देवता से विनम्रता से बातें करे। दण्ड प्रणाम, पूजन अवश्य करे। साधक कहीं भी, किसी भी लोक से, किसी भी देवता से, किसी भी चीज की मांग न करें। अन्यथा साधक भटक जाता है। उसकी साधना टूट जाती है। एक दिन आएगा, जब साधक वैसे ही उन देवों से बाते करेगा जैसे सामने बैठे अपने मित्र से। तब कुछ और ही स्थिति होगी।

आत्म शरीर—(Spiritual Body) (स्प्रीचुअल बॉडी) यह पांचवां शरीर विशुद्ध शरीर का है। यहां मन आकाश के सदृश्य विशुद्ध हो जाता है। इसी से इसे विशुद्ध चक्र कहते हैं एवं इस शरीर को आत्म शरीर। इस शरीर की संभावनाएं अनंत हैं। जैसे साधक ऊपर के चक्रों में प्रवेश करते जाते हैं उसी के अनुरूप की संभावनाएं भी बढ़ती जाती हैं।

प्रकृति अक्सर इसका विकास 28 से 35 वर्ष के बीच कर देती है। साधक इसका ठीक ढंग से उपयोग करे एवं गुरु ठीक से निर्देशित करे तब 35 वर्ष तक साधक इस शरीर को उपलब्ध हो ही जाता है। जिस तरह से चौथे शरीर पर साधक स्वर्ग नरक तक रुक जाता है। और जो साधक आगे आता है वह आत्म शरीर या अध्यात्म शरीर पर पहुंचता है। यह शरीर पर दिखाई नहीं पड़ता, जैसे आत्मा कहते हैं तो एक शब्द मालूम होता है। इसे अनुभव किया जा सकता है। यह शरीर ही लगभग मुक्ति का द्वार है। परंतु यहां तक पहुंचा साधक भी आगे नहीं जाने की इच्छा करता है। कहता है मात्र आत्मा ही है अब कोई परमात्मा वगैरह नहीं है। जैसे पहले एवं दूसरे शरीर का साधक जन्म-मृत्यु मानता और कुछ मानता ही नहीं पदार्थ तक ही सीमित है। अतएव आगे कैसे सत्य माने। उसी तरह यह साधक भी आत्मा तक ही रुक सकता है या अधिकांश रुक जाते हैं। यहां से आत्मिक प्रेम होता है। वास्तविक यही से निःसरित होता है। जो जन्मों जन्म तक चलता है। यहां वासना नहीं रहती है।

दो का मिटना–

द्वैता-द्वैत का मिटना–जैसे ही साधक इस शरीर में प्रवेश करता है, उसकी मूर्छा निद्रा अपने आप टूट जाती है। जब वह जगा रहता है। जैसे रात्रि में भी सोता है तो उसका शरीर सोता है। वह सतत जाग्रत अवस्था में रहता है। वह सोने में भी कुछ करता है तो जानता है कि वह कर रहा है। साधारण व्यक्ति सोते समय कंबल ओढ़ लेते हैं। उन्हें पता नहीं रहता है। इतना ही नहीं खा-पी भी लेते हैं उन्हें पता नहीं होता। परंतु यह साधक 24 घंटा जगा रहता है। शरीर सोता है। दूसरी बात जब यह जाग जाता है तो इसका द्वैत भी समाप्त हो जाता है। यहां न ही स्त्री रहती है न ही पुरुष। चूंकि यह सब द्वैत पर ही टिका है। आत्मा न स्त्री है न ही पुरुष न ही द्वैत है, वह है विशुद्ध। गुरु एवं शिष्य का संबंध यहीं से स्थायी रहता है। तब गुरु शिष्य के उद्धार हेतु जन्मों जन्त तक पीछा करता है। इस शरीर में केवल देना ही देना होता है। पूर्ण प्रेम, प्रेम का सागर।

पांचवें शरीर में पहुंचे हुए लोगों की संख्या नगन्य है। इस जगत में सोए हुए लोगों की ही संख्या अधिक है। सब काम सोने में करते हैं। अहंकार सदा साथ-साथ होता है। अतएव उनके लिए इस शरीर में पहुंचना ही अत्यंत दुखद कार्य है। अक्सर आप देखते हैं कि महात्मा के आश्रम में जंगली जानवर साथ-साथ बैठे हैं, उन्हें किसी तरह की न ही आपत्ति है न ही भय। क्योंकि

विशुद्ध चक्र









आज्ञा चक्र

हं ॐ क्षं




उस महात्मा का अब अपना कोई विचार ही नहीं है। वह अब निर्विचार, निर्भय है। जब तक विचार उठता रहता है तब पशु-पक्षी के मनः मस्तिष्क तक वह विचार टकराता है जिससे वे भयभीत होकर दूर हो जाते हैं। परंतु जैसे ही निर्विचार को उपलब्ध होते हैं। वह भी जीव-जंतु साथ-साथ निर्भय रहते हैं। आत्म शरीर से भी सूक्ष्म रूप से प्रकाश या ऊर्जा निकलता है वह किसी को भी प्रेम से भर देता है। भले ही वह पेड़ हो, पौधा हो या पत्थर, पर्वत हो। आत्मिक शरीर वाले व्यक्ति से पूरी सृष्टि ही प्रेम करने लगती है। यही सृष्टि का राजा है। अपने में सभी को देखता है। सभी में अपने को देखता है।

मालिक–

विचारों का मालिक–यदि यह कहा जाए कि यह शरीर विचारों का मालिक है तो अतिशयोक्ति नहीं। मैं स्वयं अपने ही गुरुदेव को देखता था। दो व्यक्ति एक साथ मिलने आते। एक को अत्यंत क्रोधी मालूम होते तो दूसरे को अत्यंत कारुणिक। वहां से जाते ही रास्ते में एक कहता ये तो करुणा की साक्षात मूर्ति है। दूसरा कहता कैसे कहते हो भाई, ये तो क्रोध से भरे थे। उस स्थिति के व्यक्ति जब चाहे एक साथ विभिन्न प्रकार की मुद्रा प्रगट कर सकता है। सारी मुद्राएं वातावरण में मौजूद हैं चाहे राम हो, कृष्ण हो बुद्ध, महावीर हो, चंगेज खां हो, हिटलर हो, आइन्स्टीन हो। सब के विचार आपके अंदर प्रवेश करने के लिए प्रयासरत हैं। आप सब तरह के विचार से घिरे हैं। जैसे वातावरण में सब विचार भरे हैं आप रेडियो को जहां लगाते उसी स्टेशन का कार्यक्रम देता है। ठीक उसी तरह वह व्यक्ति जब चाहता जिसका चाहता विचार उत्पन्न कर लेता। यह विचार तो है ही मात्र प्रवेश का मौका चाहिए। गुरुदेव के आश्रम पर सुबह या रात्रि में कोई जाता तो आगाह किया जाता। गुरुदेव का बिछावन मत छूना, इधर-उधर ठीक से घूमना क्योंकि सर्प अक्सर उनके इर्द-गिर्द रहते, पक्षी निर्भय होकर रहते मानो उसी का डेरा हो। इस शरीर का साधक क्रोध भी करता है तो देखता है इस क्रोध के नाटक को। यह शरीर विचरणा एवं प्रज्ञा का है। इस शरीर पर पहुंचे हुए साधक को मुक्त कहा जा सकता है। चूंकि आगे जाने में अब कोई अड़चन नहीं रहती है। जैसे चौथा शरीर जाग्रत रहा तो देवत्व का होता है यदि सोया रहा तो प्रेत का। ठीक उसी तरह इस शरीर से ये दोनों ही गिर जाते हैं। पर मैं विदा हो जाता है। अस्मिता पर रुक जाता है। यह अस्मिता साधक के लिए अत्यंत ही कीमती परदा है। जिसे गिराना नहीं चाहता। इसमें ही आनंदित रहता है।

परिणाम—साधक का चेहरा दिव्य आभा से भर जाता है। विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती ही स्वयम् उसकी जिह्वा से बोलने लगती हैं। मात्र साधक अपनी जिज्ञासा प्रगट करता है। भारती देवता भी वही है अतएव साधक जिस भी तरह की भावना, जिस तरह का स्वरूप लाना चाहता है वह भारती देवता तुरंत भर देता है। साधक विशुद्ध निर्विचार होकर बोलता है एवं करता है। जो कुछ भी बाह्य जगत के जीव उसे देखते हैं उसकी विद्वत्ता एवं अनुभव की प्रशंसा करते हैं। जबकि वह साधक वास्तव में न ही विद्वान है न ही अनुभवी है। चूंकि दोनों ही गिर चुके होते हैं। परंतु इस तरह के साधक की पहचान भी अत्यंत कठिन है। वह साधक बहिर्मुख अत्यंत कम हो जाता है। जगत का काम भी बाह्य दृष्टि एवं जगत हित सोचकर कर लेता है। अंदर से 'स्व' में ही स्थित रहता है। इस शरीर में पहुंचा साधक देव योनि भी नहीं ग्रहण करता। अब यह स्व में स्थिर होकर द्विज बन जाता है। यह द्विज आगे पहुंचकर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है।

यह योगी जितना भी दिन जीवित रहना चाहता है। अपनी इच्छा से रह सकता है। परंतु इसकी इच्छा होती ही नहीं। वह रोग शोक मुक्त होता है। ज्ञान में स्थित रहता है। हां, यदि कहीं किसी भक्त का संस्कार क्षीण करता है, या आशीर्वाद देकर उसका भाग्य बदलता है, या शाप देकर तब उसके संस्कार को अपने ऊपर लेकर द्रष्टा के भांति भोग लेता है जिससे आगे कोई भी संस्कार उसका पीछा न करे।

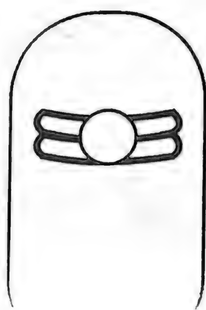
आज्ञा चक्र (Medula Plexus)—

यह चक्र दोनों भ्रुवों के बीच भृकुटी के मध्य में है। यहां दो दल कमल हैं। यह बिलकुल शुभ्र रंग की है। इसे पिनीयल ग्लैण्ड एवं पीट्यूटरी ग्लैंड भी कह सकते हैं। यह सामने मस्तिष्क में दो मांस पिण्ड की तरह हैं। जो साधक के द्वारा करने से उर्द्धमुख होकर खिल जाते हैं। यही बाद में दिव्य, अलौकिक शक्ति से भर जाता है। इसे त्रिनेत्र भी कहते हैं।

देवता—इस दल के आधिपत्य है 'आत्मा'। दोनों पत्तों पर हाकिनी एवं डाकिनी नाम की शक्तियां रहती हैं। इन पर दो अक्षर हं, क्षं है। इससे थोड़ा-सा ऊपर एक सतदल डाकिनी कमल है। यह कमल दल भी श्वेत है। इसे प्रकृति का महल या माया महल कहते हैं। आज्ञा चक्र तप लोक है जहां ॐ का प्रणव भी हर समय सुनाई पड़ता रहता है। यहां लिंगाकार मंत्र बनता है। जिसे साधक निर्गुण शिव भी समझते हैं। शंकर एवं शिव में यहां अंतर है। शंकर की एक

आज्ञा चक्र







आकृति है, मानव की तरह। परंतु शिव प्रकाश स्वरूप लिंगाकार है। सद्गुरु कबीर साहब इसे ही त्रिवेणी संगम कहते हैं—

त्रिवेणी संगम झलके हीरा।
चरण चित तह रख, कबीरा।।

संत तुलसी दास भी कहते हैं—

परम प्रकाश जलै दिन राती,
न चहौ दीप घृतबाती।

ज्ञान संकलिनी तंत्र में भी कहा गया है—

त्रिवेणी संगमों यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीतं सर्वपायैः प्रमुच्यते।

निर्गुण निराकार शिव की स्थिति यही है। इसी से शैव साधक अपने ललाट पर पिंडी बनाते हैं। वे यहीं पर आनंदित होकर जन्मों जन्म पड़े रहते हैं। उनके लिए यह स्थान ही सर्वोच्च है।

मानसिक पूजा—साधक पूर्वोक्त विधि से मानसिक पूजा कर सकता है। हाकिनी-डाकिनी की पूजा स्तुति कर सकता है। पांचों उचार शोडषोपचार एवं बत्तीसों उपचार से। परंतु यहां ध्यान लग जाने पर न अलग पूजक बचता है। न ही पूज्य। यहां विचित्र घटना उत्पन्न हो जाती है। त्रिवेणी संगम पर स्नान मात्र से जन्मों का पाप स्वाहा हो जाता है। संस्कार स्वतः समाप्त हो जाता है। यहां गंगा, जमुना, सरस्वती का दिव्य संगम है। जिसे इंगला-पिंगला एवं सुषुम्ना भी कहते हैं। इसमें स्नान मात्र से साधक के सारे संस्कार क्षय हो जाते हैं। यही तीर्थ राज प्रयाग है। स्थूल शरीर वाले लोग इलाहाबाद को प्रयागराज कहते एवं वहां की दौड़ लगाते हैं। परंतु जो साधक गुरु की कृपा से इसे जान गया वह यहां स्नान कर सदा आनंदित रहता है। अब उसे कहीं स्नान करने की जरूरत ही नहीं महसूस होती। न ही पूजा करने की। अब पूजक एवं पूज्य का मिलन हो गया।

हृदय—इस तरह के साधक के लिए हृदय कहीं और नहीं है। वास्तविक हृदय यही है। वह हृदय जहां से खून का वितरण है जिससे शरीर स्वस्थ होता है। खून साफ भी होता रहता है। परंतु यह हृदय योगी जन के लिए है। जहां से प्रकाश सारे चक्रों में जाता है। सारे चक्र यहीं से पुष्ट होते हैं। सबका संबंध यहीं से होता है या नियंत्रण भी यहीं से होता है। अतएव आज्ञा चक्र ही वास्तविक हृदय जानना चाहिए। स्थूल बुद्धि वाले लोगों के लिए वह हृदय है जो नीचे है। योग स्वरोदय में भी कहा गया है।

तदैव हृदयं नाम सर्वशास्त्रादि सम्मतम्।
अन्यथा हृदि किंचास्ति प्रोक्तंयत् स्थूलबुद्धिम॥

इस तरह साधक के लिए अब यही त्रिवेणी है। यहां स्नान करने के बाद अब न स्नान की जरूरत है, न ही तीर्थ की जरूरत है, न ही व्रत की जरूरत है। इस तरह का साधक जहां रहता है। वहीं तीर्थ हो जाता है। जो साधक यहां स्नान कर लेता है उसे बाहर पितृ पिण्ड देने की आवश्यकता नहीं होती है। इसके पितर स्वतः मुक्त हो जाते हैं। यहां स्नान मात्र से साधक का जन्मों जन्म का पाप स्वतः जल जाता है। वह स्वयंभू हो जाता है। पाप-पुण्य से ऊपर उठ जाता है। देवताओं के लिए भी दर्शनीय हो जाता है। देवता गण इनके आदेश का पालन कर अपने को धन्य समझते हैं। कुछ साधु, महात्मा लोग खून साफ करने वाले हृदय में ही ध्यान करने को कहते हैं। गीता प्रेस से प्रकाशित पुस्तकें भी उन्ही का अनुसरण करती हैं। सो उचित नहीं है। इसकी जानकारी विज्ञ एवं आत्मवेत्ता गुरु से ग्रहण करनी चाहिए।

शिव नेत्र–

जब साधक का मन स्थिर हो जाता है। परम प्रकाश में स्व को लीन कर लेता है। तब उसकी दिव्य दृष्टि अपने आप आ जाती है। जिसे दिव्य दृष्टि (Organ of clairvoyance) क्लैरवोएंसी ऑर्गन भी कहते हैं। इसे ही त्रिनेत्र या शिव नेत्र कहते हैं। यह शिव नेत्र साधक को अपने आप प्राप्त हो जाता है। चूंकि शिव लिंग रूप यहीं है। साधक को यहीं चंदन लगाना चाहिए जिससे उसकी त्रिनेत्र खुलने में मदद मिलती है। चंदन में ऐसी किमिया है। जो साधक की साधना को प्रशस्त करता है। उसके त्रिनेत्र को खोलने में सहायता प्रदान करता है। इसकी विशेष जानकारी दिव्य गुप्त विज्ञान में दी गई है।

साधक का प्राण एवं मन जैसे ही आज्ञा चक्र पर रुक जाता है। वह तत्क्षण संप्रज्ञात समाधि को उपलब्ध हो जाता है। यह स्थिति साधक के लिए अत्यंत ही बहुमूल्य है। संभवतः विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न साधकों के द्वारा त्रिकुटी पर ही स्नान, रुक कर देख लेने का महत्व दिया गया है। सहज योग के साधक की यात्रा यही से प्रारंभ होती है। चूंकि आज्ञा चक्र को जोड़ती है एवं अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित करती है। अतएव सहज योग के साधक गुरु कृपा से यहीं से यात्रा प्रारंभ करते एवं कुण्डलिनी उनकी साध्य नहीं होती। वह अपने आप जाग्रत हो जाती है। इस तरह के साधक कुण्डलिनी के फेरे में पड़ते ही नहीं। यह घटना तो अपने-आप ही घट जाती है।

ब्रह्म शरीर (Cosmic Body) कॉस्मिक बॉडी—बचपन से ही जैसे अन्य 5 पांच शरीर का विकास हुआ उसी तरह यदि किया जाए तो यह शरीर भी 36 वर्ष एवं 42 वर्ष के मध्य हो जाना चाहिए।

इस शरीर में पहुंचना साधक के लिए अत्यंत ही महत्वपूर्ण छलांग है। अहम् ब्रह्मास्मि ही रह जाता है।

अस्मिता—

अस्मिता का खोना—साधक इस शरीर में जो अहम् ब्रह्मास्मि का अनुभव करता है। वह यही इसी शरीर में 'स्व' को खो भी देता है। अस्मिता को खोना भी यही होता है। चूंकि आनंद का अनुभव साधक पिछले शरीर में कर चुका है। अतः यहां अस्तित्व (एक्जिस्टेंस) का है। साधक अहम (मैं) भी पांचवां पार ही छोड़ चुका है। अब 'है' एवं 'हूं' रह गया है। यह 'हूं' भी इसी आज्ञा चक्र में चला जाएगा। रह जाएगा मात्र 'अस्तित्व'। 'स्व' चला जाएगा एवं सर्व आ जाएगा। या यों समझा जाए 'स्व' का ही रूपांतरण 'सर्व' में हो जाता है। इस चक्र के अनुभव का वर्णन ही वर्णातीत है। अब कुछ भी कहना खींचा तानी करना है। चूंकि ब्रह्म ही परम सत्य है। साधक पा लिया। अब क्या चाहिए। अब साधक अनंत हो गया। अब इस अस्तित्व बोध से निकलना भी साधक के लिए अत्यंत दुष्कर है। अब जाप तो आप कहां इदम्, उद्म, सर्वत्रम् ब्रह्म का ही अस्तित्व ज्ञात हो रहा है। साधक आज्ञा चक्र पर पहुंचकर जो कुछ भी देखता है वह दिव्य होता है। जो इन आंखों से देख पाना असंभव है। वह सब इंगित भी करे तो किसे करे। अब वह अनहोनी देखने लगता है। जब बोलता है तो वह भी अनहोनी होने लगता है। जिसे लोग कहते हैं (त्रिनेत्र खुल गया) चूंकि तीसरे नेत्र से ही अब साधक देख रहा है। अनंत देख रहा है। अब वह इससे कम पर समझौता करने को तैयार ही नहीं है। यह आत्मा ही ब्रह्म में भासित होने लगा है। वासना भी कहा जाए तो गलत होगा। इसी से अनुभव गम्य कहा गया है। यह आत्मा (ब्रह्म) विज्ञान की पकड़ से बाहर है। वह तो शरीर एवं अणु-परमाणु या क्वांटम तक ही पकड़ पाएगा। वह कैसे पकड़े ब्रह्म की भाषा को, ब्रह्म का अनुवाद भी किसी भाषा में नहीं किया जा सकता। यह ब्रह्म भारतीय धर्म की ही खोज है। जैसे क्वांटम पश्चिम के विज्ञान का। क्वांटम का भी अनुवाद संभव नहीं है। ब्रह्म शब्द अनमोल है। यह व्यस्थापित है। इसमें हुआ जा सकता है। (Being) रहा जा सकता है। यहां ही साधक 'सर्वम् ज्योतित ब्रह्मं' चारों तरफ ब्रह्म ही देखता है। इसे मधु विद्या भी कहा

जाता है। सबके लिए मोहन बन जाता है। विश्व मोहन। इसी से कृष्ण का एक नाम मदन मोहन भी है। यहां आनंद सागर है। सदैव एक रस आनंद में रहते हैं।

जीवन का अमरत्व–

साधक अपनी इच्छानुसार शरीर ग्रहण कर लेता है। यदि वह चाहता है कि इस शरीर को छोड़कर कहीं अन्यत्र ब्रह्म शरीर ग्रहण कर आनंदपूर्वक रहूं तो रह सकता है। अभी भी बहुत महात्मा हिमालय एवं काशी सिद्धाश्रम में पांचवें शरीर या छठे शरीर में सैकड़ों, हजारों वर्षों से रह रहे हैं। जिसे आप कभी-कभी कथा कहानी के रूप में कहीं पढ़ लेते हैं। सुन लेते हैं कि अमुक व्यक्ति से अमुक व्यक्ति की भेंट हुई। यह कथा कहानी नहीं सत्य है, परंतु उस अशरीर को देखने के लिए आपको भी अशरीर होना पड़ेगा या दिव्य दृष्टि ग्रहण तो करना ही पड़ेगा। काशी इस पृथ्वी की पुरातन धरोहर है। जो भगवान शिव के त्रिशूल पर है। वहां सदैव पांच सौ आत्माएं इस शरीर की वहां रहती हैं। जिससे आप मिलकर सत्यासत्य का स्वतः अनुभव कर सकते हैं।

एक अनुभव–मैं पहले कह चुका हूं कि जो कुछ भी कह रहा हूं वह 'स्व' का अनुभव है या गुरु कृपा। गुरु देव का प्रवचन या अपना अनुभव भी हमें सुनाया करते थे। एक दिन जब इस शरीर पर बात हो रही थी। उन्होंने कहा, मेरा फेफड़ा नेती धोती करने से फट गया था। हृदय भी क्षतिग्रस्त हो गया। मैं खुद वैद्य भी था। परंतु कुछ लोगों से परामर्श लिया, तो वे लोग बताए कि तुम्हारे मुंह से जितना खून निकल रहा है, उससे मालूम होता है कि कुछ दिन के मेहमान हो। अब तुम नहीं बचोगे। मैं भी अपने जीवन से निराश हो गया था। अब किया ही क्या जा सकता था। उस समय यानी उन्नीस सौ दस के लगभग पढ़े-लिखे लोग कहीं-कहीं किसी-किसी गांव में मिलते थे।

उस समय मैं पढ़-लिख कर योग-साधना के चक्र में फंस गया। यही सोच रहा था। संध्या थी। तब तक वह गुरु, जो मुझे योग सिखाते थे, आ गए। उन्हें देखकर मेरे पिता जी अत्यंत क्रोधित हो जाते थे, कहते थे, तुमको और कोई लड़का नहीं मिलता क्या ? भाग जाओ यहां से। हमारे पिता जी सब मिलकर चचेरे वगैरह सात भाई थे। जिनमें मैं ही उस समय एकमात्र संतान था। मेरे पिता ने मुझसे खिन्न होकर दूसरी शादी कर ली एवं जिससे उन्हें एक लड़का भी बाद में हुआ। खैर, गुरुदेव इशारे से कहकर, उसी समय चले गए (मैं रात्रि का इंतजार करने लगा) किसी तरह 12 बजे रात्रि आ ही गया। मैं गांव के बाहर

गया, एक कुआं था, पीपल का पेड़ था। वहीं वह महात्मा मेरे इंतजार में ध्यानस्थ थे। मैं वहां पहुंच कर उनके पैरों पर गिर गया। वे कहे अब समय नहीं है। तुम्हारा शरीर रुग्ण हो गया। इस हठ योग के एकमात्र वैद्य हैं, उनसे इलाज करा लो। वे कहां हैं। वे बोले, चलो अभी हमारे साथ। उसी समय उसी क्षण हम लोग पैदल ही चल दिए। दो दिन पर घर से चलकर वाराणसी पहुंचे। मैंने पूछा, क्या इसी शहर में वह वैद्य है। वे बोले, हां कभी यहां रहते थे। अब वे कैलाश चले गए हैं। वहां तुम अकेले यहां से जाओ। सुबह हो गई गंगा मां में स्नान करो। उत्तरायण कैलाश की यात्रा शुरू कर दो। मैं हर समय तुम्हारे साथ रहूंगा। मुझ में कहां से शक्ति आ गई। मैंने स्नान कर मां गंगा का जल पी लिया। बस चलता रहा-बस चलता रहा—कहीं रास्ते में कुछ मिल गया। खा लिया चल दिया। जब जहां नींद लगी सो गया। दो माह के बाद एक घोर जंगल के नजदीक पहुंचा। वहां से कैलाश पर्वत दिख रहा था। सफेद-शुभ्र। इसे दूर से देखकर आनंद में डूब गया। जैसे मैं कैलाश पर ही हूं। जब जंगल के प्रथम छोर पर पहुंचा जहां से जंगल में पगडंडी जा रही थी। उसके किनारे ही एक गुमटी दिखाई दी। एक दिव्य पुरुष बैठा था। चिल्लाया स्वामी जी इधर आ जाओ। मुझे आश्चर्य हुआ, जहां न गांव न शहर वहां छोटी-सी दुकान एवं ऐसा दिव्य पुरुष दुकानदार। खैर, गुरुदेव को स्मरण करते हुए उसके समीप गया। वह बोला, स्वामी जी पान खा लो। मैं सोच रहा था, पैसा कहां से दूंगा। तब तक वह बोला, स्वामी जी पान खा लो न, कोई पैसा नहीं देना है। मैं उसकी विनम्र प्रार्थना देखकर पान खा लिया। तब वह दुकानदार बोला, स्वामी जी आप सीधे रास्ते चले जाओ एक कोस के बाद दाएं मुड़ जाना यानी वहां से बाएं-दाएं एवं सामने भी रास्ता गया है। आप दाएं मुड़ जाना, आप शीघ्रता से आगे बढ़ो अभी-अभी गोरख की मंडली गई है। मैंने कहा, तुम्हारा दिमाग ठीक है न, तुम पढ़े-लिखे हो या नहीं। गोरख कब हुए थे। वह व्यक्ति बिना सोचे बोला, यह मैं नहीं जानता। परंतु यह जानता हूं कि आप शीघ्रता से आगे बढ़ेंगे तो आप से मिल सकते हैं। अन्यथा देर करेंगे तो चूक जाएंगे। बस इसके आगे मैंने समय बरबाद करना उचित नहीं समझा। तेज गति से चल दिया। मानो हमारे शरीर में पंख लग गए हों। कुछ ही देर में उसके बताए चौराहे पर पहुंच गया। वहां से दाहिने मुड़ा लगभग आधा घंटा ही चला कि दो-चार झोपड़ियां दिखाई दीं। आश्चर्य इस जंगल में सुंदर झोपड़ी। मैं आगे गया। एक झोंपड़ी से एक महात्मा कमण्डल लिए हुए निकले। ओजस्वी तेज था चेहरे पर। बड़ी-बड़ी आंखें, लंबा कद। सीधे मेरे नजदीक आए, मैं झुककर प्रणाम करने

की सोच ही रहा था कि वे बोले, स्वामी जी अपने कमण्डल में छाछ ले लो। मैं तेरे लिए ही इंतजार कर रहा था। गुरु गोरखनाथ अपने भक्तों के साथ आगे निकल गए। हम लोग कैलाश जा रहे हैं। तुम छाछ पीकर पीछे आ जाना। मेरी इच्छा हुई साथ-साथ चलने की। तब तक वे बोले, कैसा साथ जी, तुम अकेले आए हो। अकेले चले जाना। तुम्हें भय किस बात का जी। योगी भी भय करता है। योगी जन्म-मरण से ऊपर होता है। देखो सामने की झोंपड़ी में कबीर रहते हैं। वे भी अभी नहीं हैं। बगल की झोंपड़ी में नानक देव। तुम लोग वहां लड़ते हो। इनके मतों एवं सिद्धांतों के लिए। यहां अशरीर में हम सब साथ-साथ रहते हैं। खैर, तुम उसे पीकर विश्राम कर लो। कल चलना। झोंपड़ी खोल देता हूं। इतना कहकर, छाछ हमारे कमण्डल में डालकर तेजी से चल दिए। मैं अवाक देखता रह गया। कुछ क्षण बाद जब मुझे होश आया तो सोचा क्या दिन में ही सपना देख रहा हूं। पर ऐसा नहीं था। मैंने छाछ पी ली, ऐसा स्वाद कि क्या कहूं। मैं तृप्त हो गया, भूख मिट गई। उसी झोंपड़ी में बैठा, पता नहीं कब सो गया। जब आंख खुली तो देखा सूर्योदय हो रहा था और भी झोपड़ी में जा-जाकर देखा कोई दिखाई नहीं पड़ा। परंतु हमारे शरीर में अब तेज था, ओज था। न भूख थी, न ही प्यास, न ही पश्चाताप। बस सामने कैलाश ही दिखाई दे रहा था। चल दिया। सुना था कि उसकी चढ़ाई हफ्तों की थी, परंतु पता नहीं कैसे मैं संध्या के समय कैलाश पर था। संध्या समय जब कैलाश पर पहुंचा तो एक महात्मा का दर्शन हुआ। वे स्वयं मेरे नजदीक आए बोले, स्वामी जी यहां बर्फ ही बर्फ है। तुम सामने की गुफा में चलो। मैं तुरंत आया। मैं आगे बढ़ा एक घरनुमा सुंदर गुफा थी। अत्यंत मनोरम। उस बर्फ पर भी उस गुफा में ठंडक नहीं थी। महात्मा भी आए एवं बोले, स्वामी जी रात्रि में यहीं रुको। एक सफेद कंदमूल जैसा कोई पदार्थ दिया। साथ ही बोले, इसे खाकर सो जाना। भगवान शंकर तुमसे स्वयं मिलेंगे। तुम्हारा सब ठीक हो जाएगा। वे तुम्हारे लिए इंतजार कर रहे थे। सवेरे चले जाना यहां रुकना मत। क्या करेगा रुक कर ? जगत में तुझे कुछ करना है न। मैं विनम्र व निर्भीक ही मालूम हुआ, यह महाप्रसाद है। शरीर से रोग-कष्ट दूर भाग गया था। मैं नए ओज से भरा गया। वहां सिद्धासन लगाकर ध्यान में बैठ गया। ऐसा भान हुआ लगभग अर्द्धरात्रि को भगवान शंकर आकर हमारे सिर पर हाथ रखे। बोले, बेटे तुम तो ठीक हो। कौन कहता है तुम बीमार हो ? तू तो योगी है। तुझे योग स्वयं उपलब्ध हो जाएगा। रात्रि भर इसी तरह बैठे रहो। सुबह तुम्हारा ध्यान तोड़ देंगे। तुम सुबह मान सरोवर में स्नान कर लौट जाना। मैं ध्यान में मस्त था

सुबह आंख खुली। सामने वही महात्मा खड़ा था। मानो हमारे ध्यान टूटने का इंतजार कर रहा हो। बोले, स्वामी जी भगवान शंकर तुझे रात्रि में दर्शन दे चुके हैं। हमारे साथ चलो। मानसरोवर में स्नान कर लो। तब तुझे यहां से विदा करूं। मैं मूर्तिवत उनके साथ चल दिया। कुछ ही देर में देखा सामने परम सुंदर, रमणीक एक तालाब था। हंस घूम रहे थे। जल अमृत तुल्य था। मैंने जल उठाकर आचमन किया। तत्पश्चात उसमें स्नान किया। क्या कहूं स्नान से भी दिव्य शक्ति का संचार हो गया सारे शरीर में। मानो कुण्डलिनी जग कर त्रिकुटी पर पहुंच गई। विचित्र था यह स्नान। मैं घंटों उस तालाब में खड़ा, ध्यान करता रहा। लगभग दोपहर को वही महात्मा आवाज, दिया स्वामी जी, अब चलो। तुम्हारा सब काम हो गया। जिसे प्राप्त करने में लोग जन्मों गंवा देते हैं वह तुम्हें तुरंत ही उपलब्ध हो गया। मैं उसके साथ चल दिया। मुझे ऊपर से उतरने का रास्ता बता दिए। अब मैं चल भी रहा था तो ध्यान में था। ध्यान की ही सुरति लग गई। कब मैं चलकर काशी पहुंच गया, वह खयाल नहीं।''

गुरुदेव के इस प्रसंग से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इस शरीर में भी पहुंचे महात्मा अभी हैं। मानो वे समय के बंधन से मुक्त हो गए हैं। हम लोगों को भी बहुत कुछ दिखाए एवं कराए भी। जो यहां लिखना उचित प्रतीत नहीं होता है। हां, कोई साधक यदि इस रास्ते पर आता है तो उसे कुछ दिखाया एवं बताया जा सकता है। अन्यथा यह कहानी बनकर रह जाएगा। अतएव साधक को सबसे पहले कुछ करने की उत्कंठा प्रबल होनी चाहिए। आगे का रास्ता अपने आप साफ होता जाएगा या प्रकृति आगे-आगे व्यवस्था करती जाएगी।

इस अवस्था के साधक के नजदीक किसी भी तरह का दिखावा कैसे आ सकता है। वह अत्यंत ही सहज हो जाएगा, जहां कहीं भी दिखावा है, वहां सहजता नहीं है। आत्मा का, ब्रह्म का तो स्वभाव ही सहज है। इसी से शास्त्रों में भी कहा गया है।

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं नं बहुश्रुतम्।
च सुवृतं न दुर्वृतं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥
गूढ़ धर्माश्रितों विद्वानज्ञात चरितं चरेत्।
अन्धवच्च जड़वच्चापि मूकवच्च महीं चरेत॥

अर्थात इस तरह के साधक न ही संत की तरह दिखावा करेंगे बाहरी बनावट से दूर ही रहते हैं न ही असंत के तरह रहेंगे। न ही अश्रुत न ही बहुश्रुत रहेंगे। चूंकि वे तो अपने अंदर ही सुनने लगे। बाह्य का श्रुतानुश्रुत से कोई खास तारतम्य नहीं रहता है।

अब यह साधक सुवृत्त यानी तथाकथित धर्म के फेरे में नहीं रहता। अमुक जगह जाने पर पुण्य, अमुक जाने पर पाप। ऐसी वृत्ति से भी अलग हो गया। अब दुर्वृत्त जानता ही नहीं। दोनों से अलग हो गया। वह तो ब्रह्म को जानकर ब्रह्मनिष्ठ हो गया। अब वह कैसे अच्छे एवं बुरे के चक्कर में रहेगा। उसके लिए ये सब असंभव हो जाएंगे। इस तरह यह अत्यंत ही गूढ़ धर्म है, जिसका पालन करते हुए विद्वान योगी दूसरों से अज्ञान चरित्र की तरह ही रहता है। दूसरा पहचान भी कैसे पाएगा। उसके पास पहचानने का दिव्य दृष्टि है कहां। वह तो पहचानता अपने ही तरह के मायावी बनावटी या बहुरूपिया सदृश्य व्यक्ति को। यह साधक तो सर्वसाधारण के लिए अंधे के समान नजर आता है। जड़ के समान एवं मूक के समान पृथ्वी पर विचरण करता है। वह अब तो कुछ भी देख रहा, यदि व्यक्त भी करे तो हजार में एक-दो आदमी भी नहीं पकड़ पाएंगे। उसे अन्यथा लेंगे या पागल कर देंगे। यह बहुत ही बड़ी विचित्र विडंबना रही है। हम समझते हैं उसी को जिसके पास बाह्य बनावट बहुत होती है। जो असहज रहते हैं। चूंकि हम अत्यंत असहज हो गए हैं।

अनुभव–यहां साधक संप्रज्ञात समाधि को उपलब्ध हो जाता है। वह ब्रह्ममय सृष्टि को देखने लगता है। अब प्रश्न उठता है। जीवात्मा कहां है ? उसका ब्रह्म से क्या संबंध है ? इत्यादि प्रश्न वही खड़ा करते जिसे कोई अनुभव नहीं है। अनुभवी को ये प्रश्न गिर जाते हैं। कहां खोजेगा आत्मा को ? कहां खोजेगा ब्रह्म को ? अब कैसे अलग-अलग समझेगा। अलग-अलग समझने के लिए द्वैत बुद्धि कहां से लाएगा ? उसके लिए सब असंभव-सा प्रतीत होता है। फिर भी मैं आपको इस विषय पर कुछ कहना चाहता हूं। संभवतः आप अपने अनुभव के द्वारा जान सकें। आत्मा का प्रकाश चित्त पर पड़ता है। चित्त ही कारण शरीर है। इसी चित्त के संबंध से आत्मा का नाम जीवात्मा हो जाता है। कारण, शरीर ही सूक्ष्म शरीर में व्याप्त हो जाता है। तथा यही सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर में। अब आप समझ गए होंगे कि वही जीवात्मा सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। परंतु पुनः अलग-अलग कार्य के भेद होने से उसके अलग-अलग स्थान भी प्रतीत होता है। जैसे हृदय ही शरीर का मुख्य भाग है। अतएव सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा यहीं रहता है। जब व्यक्ति स्वप्नावस्था में रहता है तब इसका स्थान कंठ होता है। जाग्रत अवस्था में नेत्र में। इसी से संप्रज्ञात समाधि में आज्ञा चक्र पर यही ब्रह्मस्वरूप है। यदि स्वरूप भी कहे तो शब्दादोष उत्पन्न होता है।

यही ब्रह्म सहस्त्रार में असंप्रज्ञात समाधि में उपलब्ध करता है। यहां पर हर वृत्ति रुक जाती है। इस तरह जो कुछ भी हम यहां कह रहे हैं मात्र समझने के लिए। चूंकि कहना भी इशारा करना मात्र ही है। शब्दों के जाल में फंसना उचित नहीं है। साधक इसके माध्यम से गतंव्य पर पहुंचकर अनुभव कर ले। वही श्रेष्ठतम है।

सद्गुरु कबीर अपने शब्दों में कहते हैं—

जेहि रंग दूलह ब्याहन आए।
दुलहिनी तेहि रंग राचल हो।।
कहे कबीर राम रस माते।
जोलाहा दास कबीर हो।।

दूल्हा एवं दुल्हन अब दोनों एक ही रंग में हो जाते हैं। अब अलग-अलग कैसे हो सकता है। मात्र इतना ही कह सकता है कि यह आत्मा रूपी दुल्हन उस रस में मतवाली हो गई। अब वह अपने को अलग नहीं रख सकी।

उसी रंग-रस में मतवाली हो गई है मतवाली। अत्यंत सहज होने की घटना।

गुरु पर्वत—

आज्ञा चक्र के ऊपर है गुरु पर्वत। जिस पर गुरु सदैव श्वेतांबरी रूप में विराजमान रहते हैं। जो साधक गुरु के साकार रूप का ध्यान करता रहता है, वह एक दिन इस आज्ञा चक्र रूपी हवाई अड्डा पर स्वतः पहुंच जाता है। फिर गुरु अनुकंपा रूपी जहाज पर सवार हो जाता है। वह उसे गुरु पर्वत स्वतः अपनी तरफ खींच लेता है। वह पर्वत ही एकाएक प्रकाश रूप गुरुद्वार बन जाता है। यह द्वार ही गुरु द्वार है। जिससे होकर साधक परमपुरुष की तरफ उन्मुख हो जाता है। गुरु द्वार का खुलना गुरु अनुकंपा का परिणाम है। इसे हम तप या हठ के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते। यही है—

"गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागू पांव।"
बलिहारी गुरु आपनो, जिन गोविंद दियो बताए।।"

साधक गुरु रूपी द्वार से निकाय कर गोविंद रूपी सागर में मिल जाता है।

सहस्त्रार चक्र (Eretheral Plexus)

यह सातवां चक्र है। यहां पर परब्रह्म परमात्मा का स्थान है। यह हजार दल वाला चक्र है। सब दल अनंत सूर्यो से प्रकाशित हैं। यह पूर्ण चंद्र की तरह प्रतीत होता है। इसका स्थान तालु से ऊपर मस्तिष्क में है।



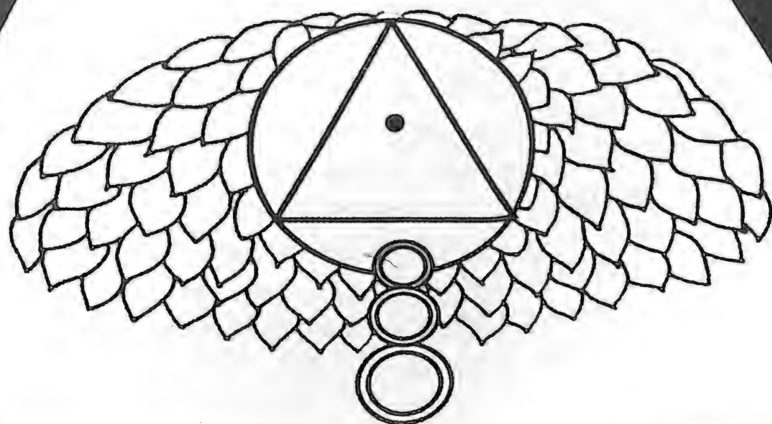

सहस्रार चक्र






सहस्त्रार चक्र





देव स्थान—अब यहां से देवताओं के भी देवता परब्रह्म-परमात्मा स्वयम् विराजमान हैं। यह सत्य लोक है। यहां तो 'अ' स्वर से क्ष व्यंजन तक सब यही है। यहां पूजक एवं पूज्य दोनों एक हो पाते हैं। साध्य एवं साधक एक हो गए। बूंद समुद्र में चला गया। यहीं पर असंप्रज्ञात समाधि लग जाती है। अतएव शरीर का भान भी समाप्त हो जाता है। यहां पर 24 घंटे में 21,600 जाप अपने आप होता रहता है, परंतु साधक अब जाप से भी ऊपर उठ जाता है। चूंकि यही ब्रह्माण्ड है। यहीं से नीचे के सारे पिण्डों की सृष्टि होती है। यहीं से सबका नियंत्रण भी होता है। अक्षर का भी नियंत्रण यहीं से होता है। निराकार निर्गुण ब्रह्म यहीं है। अतः तुरीयातीत अवस्था को साधक उपलब्ध हो जाता है। यहां अनहद की गति नहीं है। यही परम शुद्ध चित्त आनंद है। यहां बिलकुल शुद्ध सतोगुण है। योगी पूर्ण-सतोगुण में यहीं कल्पों निवास करता है।

महंत पदम–

महंत पद्म—सहस्रार से दो अंगुल आगे यह महंत पद्म है। साधारणतः साधक गण इसे सहस्रार में ही गिनते हैं या देखते हैं। चूंकि अब यहां वर्णन करना बिलकुल असंभव है। खींच कर भी वर्णन संभव नहीं होता। यह अनंत दल है। अनंत रवि का तेज है। इसी से सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं—

साहब कहते हैं—

सोई घर चेतहू हो भाई, जो आवा-गमन मिटाई।
लक्ष्मी वा घर झाड़ू देत है, शिव फेके कतवार।
विष्णु पहरा दार, सो घर चेतहू हो भाई।

यह घर विचित्र है। इसे घर भी कैसे कह सकते हैं।

निर्वाण शरीर (Bodyless body)—यह सातवां शरीर है। जब साधक गृहस्थावस्था में यानी जो वर्णाश्रम व्यवस्था है के अनुरूप ही अपने को ढालता है, तो 49 वर्ष में इस शरीर को उपलब्ध होता है। इसे औसतन 50 वर्ष माना गया। यदि नींव ठीक है तो इमारत मजबूत होगी ही। ठीक उसी तरह यदि नीचे की साधना सुव्यस्थित है। गुरु कृपा है। यह शरीर तो फल है। वह फल है निर्विज समाधि का। यह आने पर घर रहते हुए भी वानप्रस्थ हो जाता है। यानी वह जंगल की तरफ मुंह कर लेता है। इस तरह 75 वर्ष में संन्यास ग्रहण कर लेता है। इसे यो समझें अपने से भी मुंह मोड़ लेता है। मैं जो बचता था उसे भी छोड़ देता है। इन सातों का विकास यदि सुव्यवस्थित रूप से हो जाता है तो जीवन सरल एवं सहज हो जाता है।

अस्तित्व से अनस्तित्व में रूपांतरण—यह एक अनहोनी घटना है। अभी तक अस्तित्व बीइंग का बोध हुआ, अब नहीं होने का बोध होने लगा. अब नान बीइंग (Non Being) का बोध होने लगा। अब नहीं होने का पता चल जाता है। यही परम सत्य है। महामृत्यु। इसी महामृत्यु पर ब्रह्म की महत्ता का साक्षात्कार होता है।

ब्रह्म शरीर में और कुछ जानने का शेष रह गया था। वह जानना है। न जानने का, न होने की पूरी तरह मिट जाना ही निर्वाण शरीर है। बुद्ध इसी स्थिति को कहे थे—जैसे दीपक जल रहा हो, उसको समझ जाना। प्रकाश से आया था ? कहां चला गया ? यह अबूझ पहेली है। इस शरीर में जो कुछ भी कहा जाए वह मात्र बात बनाना है। चूंकि कहा नहीं जा सकता कुछ भी जो कुछ भी जाना गया, वह भी इस शरीर में छूट गया। यह स्थिति मांगी नहीं जा सकती। मांगता तो भिखारी है। बहादुर साधक गुरु निर्देश से छलांग लगा लेता है। फिर पाता है। कहां गुरु-कहां (शिष्या) चेला। फिर तो मुक्त है इस झमेले से।

इस शरीर में छलांग लगाने के लिए यानी अस्मिता से अस्तित्व से अनस्तित्व में जाने के लिए भी किसी तरह का दमन का सहारा नहीं लेना है। जैसे पीछे के शरीर में काम पर पैर रख ब्रह्मचर्य पर चढ़े। क्रोध पर पेर रखकर क्षमा पर चढ़ गए। ठीक उसी प्रकार अस्तित्व पर चढ़कर अनस्तित्व में चले जाना है। ये अब साधक का नहीं सीढ़ी के रूप में साधक को मदद करेंगे। दमन की प्रक्रिया में ही बाधक साबित होगा। जहां आप लड़े, बस वहीं रुक जाएंगे। चूंकि लड़ने में रुकना पड़ता है। हार भी होती है। बाह्य लड़ाई में जीत की संभावना रहती है। परंतु इस अभ्यांतर की लड़ाई में हार की ही संभावना ज्यादा है। जैसे हमारे ऋषि मुनी। आप कितनी कहानियां पढ़े होंगे पुराणों की। कोन ऋषि थे तो किसी अप्सरा से पराजित। तो कौन दुर्वासा थे चारों तरफ शाप ही देते चलते। यह क्या है ? मात्र अभ्यांतर के दमन का ही परिणाम है।

रहस्य—सातवें शरीर के व्यक्ति से प्रकृति में कोई रहस्य नहीं रह जाता है। वह परम शून्य होता है। शून्य से शून्य में गति अपने आप ही हो जाती है, बिना प्रयास के। इस शरीर का गुरु अत्यंत दुर्लभ होता है। यदि होगा भी तो पहचानेगा कौन ? आप तो पहचानते उसी को जिसमें विद्वत्ता हो। जिनका प्रवचन पत्र-पत्रिकाओं में आता हो। जिनके यहां बड़े-बड़े नेतागण एवं अधिकारी आते हों। यही रही आपकी खरी कसौटी। उसे पहचानने वाले भी उसी तरह के एकाध पागल के तरह होंगे। उस पागल पर आप हंसोगे। चूंकि उस शरीर को प्राप्त व्यक्ति ही सहज होगा।

बिलकुल बच्चे की तरह खेलने लगता है। बच्चे की तरह खाता, बच्चे की तरह पानी पीता, बच्चे की तरह सोता। अब बताओ कौन प्रौढ़ एवं विद्वान व्यक्ति उस बच्चे में समय बरबाद करेगा ? आप तो उसे अपने से ऊपर मानने पर तैयार ही नहीं हैं। नहीं पहचानने वालों की संख्या ज्यादा है। इन्हीं की संख्या चारों तरफ सदा से रही है। तभी तो बुद्ध पर पत्थर मारे, महावीर पर मारे, ईसा को फांसी दिए। मूसा को भी नहीं बख्शा। सदा से निर्वाण प्राप्त शरीर वाले व्यक्ति को पत्थर मारे हैं। फांसी दिए हैं। सर फोड़े हैं। अपने अहंकार का परिचय दिए हैं। जब व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त कर लेता या इस धरा धाम से चला जाता। तब आप उसका मंदिर बनाते, पूजा करते, जुलूस निकालते, सभाएं करते। इससे उसको कोई वास्ता नहीं पुनः आप दूसरे रूप में अपने अहंकार को ही बढ़ावा देते। आपके अहंकार को सूक्ष्म रूप में खाद मिलता कि आप पुण्य कर रहे हैं, धर्म कर रहे हैं। आप तथाकथित पुण्यात्मा बन जाते। धार्मिक ठेकेदार बन जाते। मंदिरों में, मंठों में, गुरुद्वारे में बैठ जाते। इनमें अधिकतर वही होते जो कहीं न कहीं बुद्धों को गाली दिए हैं। पत्थर मारे हैं। सूली चढ़ाए हैं। अब तथाकथित प्रायश्चित में पुनः अपने अहंकार को पुष्ट कर रहे होते हैं। उन्हें वास्तव में धर्म से कोई लेन-देन, का नाता-रिश्ता नहीं है।

समर्पण–

समर्पण–यदि कोई भी साधक पूर्ण रूप से इस शरीर में पहुंचे व्यक्ति के सामने अपने को समर्पण कर दे, फिर देखें तुरंत शक्तिपात हो जाता है। शक्ति मानो एक स्रोत से निकलकर दूसरे स्रोत में प्रवेश कर रही है। मानो शक्ति का, ऊर्जा का एक सेतु बंध गया। अब दो परम शून्य एक हो गए। कैसे कहोगे अलग-अलग परंतु यह घटना कभी-कभी घटती है। साधारणतः सातवें शरीर को प्राप्त व्यक्ति से जन साधारण घबरा जाता है। भयभीत हो जाता है। जैसे कोई आदमी सतह जमीन पर से खड़े होकर एक बहुत बड़ी खाई की तरफ झांके। बस सर घूमने लगता है। अनजान भय से शरीर कांपने लगता है। अभी मैं पिछले वर्ष बद्रीनाथ, केदारनाथ की यात्रा पर गया था। मेरे साथ 4 आदमी और थे। पहाड़ी रास्ते चलते समय मैं रुक-रुक नीचे देख लेता था। नीचे गंगा का श्वेत जल अविरल बह रहा है। बड़ा ही सुहावना दृश्य था। जब मैं कहा कि अरे, पंडित जरा नीचे तो देखो। बस इतना कहते ही रुमाल से आंख ढक लिया एवं चिल्लाया स्वामी जी बस करें। मैं न नीचे देख सकता न ही ऊपर। ऊपर देखने पर पहाड़ की ऊंचाई एवं नीचे देखने पर अतल खाई। हमें खाए

जा रही है। मन मचल रहा है। मुंह में चिंउगम लेकर चूस रहा हूं। अब हम लोगों को मत मारो, छोड़ दो। आगे बढ़ते चलें। हम लोग सोच रहे हैं कि अब न ही नीचे देखेंगे न ही ऊपर, मात्र अपने रास्ते पर चलते रहेंगे। अन्यथा खतरा ही खतरा है। हम लोग तो मर जाएंगे। हार्ट फेल कर जाएंगे । यह भी कोई देखना है। अब आप ही सोचो इस खाई को देखने में इतना भय, उस व्यक्ति से क्या उम्मीद कर सकते हैं। यही वजह है कि बुद्ध, महावीर, कृष्ण, कबीर एवं मूसा ऐसे व्यक्ति से व्यक्ति ही नहीं समाज भी भयभीत हो जाता है। जब कभी गहराई से उसके चेहरों को, उसकी आंख को देखता अनजान भय उसके शरीर में पैदा हो जाता। कृष्ण ऐसा आदमी जहां बैठता उपद्रव मच जाता है। उसमें एक विद्युत शक्ति होती जो आकर्षित करने लगती, अपनी तरफ खींचती एवं साधारण आदमी उसकी तरफ देखता तो पाता एक अज्ञात गड्ढा। अब भयभीत हो जाता। वहां से भागता, गाली देता, अपने को बचाने के लिए। कहते हैं कि मूसा को जब ज्ञान मिला तो अपने चेहरे पर परदा डाल लिए। जहां भी जाते परदा से युक्त जाते क्योंकि जो भी आदमी उनका चेहरा देखता डर जाता। बस घूंघट डाल दिए। अंतिम दिन तक घूंघट नहीं हटाए।

यहीं घूंघट 'मैं' का है। यह परदा है। इस परदे को हटाना पड़ेगा। तभी तो इस तरह के व्यक्ति से शुद्धतम शक्तिपात संभव है।

मूर्ति आप क्यों पूजते हो ? चूंकि वहां कोई खतरा नहीं। वहां तो आप ही बैठे हो। जब इस शरीर के आदमी चले जाते। आप मूति बना लेते। अब आपको किसी प्रकार का भय नहीं होता। न ही वह कुछ कहता, न ही कुछ शक्ति, ऊर्जा ही छोड़ता। आप वहां फूल माला चढ़ा लेते। अपने मन की बात कुछ कह देते। यदि आप पंडित हैं, मुल्ला, ग्रंथी हैं तो कुछ व्याख्याएं भी कर लीं। वह भी आपके अपने अहंकार की व्याख्या होगी।

सातवां शरीर जीवन एवं मृत्यु दोनों से पार का है। चूंकि जीवन यदि पहला भौतिक शरीर है तो मृत्यु सातवें शरीर की शुरुआत है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह शरीर दोनों से पार कर जाता है। अब आगे कहना शब्दाभाव प्रतीत होता है। अतएव यह है महामृत्यु। यही है क्रांति महाजीवन की। समर्पण होते ही गुरु तत्व शिष्य में स्वतः प्रवाहित हो जाता है। वह साधक पूर्णत्व से क्षण भर में भर जाता है।

अवतरण

महापुरुषों का अवतरण—इस शरीर को प्राप्त योगी अपने आप में

सदा आनंदित रहते हैं। सारी वासनाएं क्षीण हो जाती हैं। परंतु कोई-कोई साधक अत्यंत कारणवश चौथे-पांचवें शरीर पर ही दृढ़ संकल्प ले लेते हैं कि यहां के लोग अत्यंत दुखी हैं। ये भ्रमित हैं। ये ठगे जा रहे हैं। इनका जीवन ही ठगा जा रहा है। ये व्याख्याएं कर रहे हैं। तथाकथित धर्मों में भ्रमित हो गए हैं। संप्रदाय रूपी बंधन में बुरी तरह आबद्ध हो गए हैं। इसी नशे को धर्म समझ बैठे हैं।

इन्हें बचाना होगा। अपने लिए न सही इनके लिए आना ही होगा। ये अत्यंत कारुणिक आत्माएं होती हैं। अन्यथा छठे एवं सातवें शरीर पर पहुंचने के बाद कौन आना चाहेगा ? कौन चाहेगा उस महासमुद्र से अपने को बाहर करना ? अपना चाह भी नहीं रहता उस शरीर में बस बहते चला जाता अनंत समुद्र में। अब बहाव भी समुद्र का होता। उस विराट का होता। परंतु जो साधक अपनी खूंटी गाड़ दिया चौथे-पांचवें शरीर पर मात्र वह खूंटी गड़ी रह जाती। वह भी उसके करुणा के कारण उसी के चलते इस तरह के बुद्धत्व प्राप्त निर्वाण प्राप्त व्यक्ति, योगी आ जाते, इस धराधाम पर अब वे करुणा की मूर्ति होते। दया की मूर्ति होते। आनंद की मूर्ति होते। परंतु फिर भी इन्हें पहचानने वालों की संख्या न्यून होती। जिसमें भी कुछ गुणवत्ता होती। जिसमें भी कुछ समान ध्रुव होते, उन्हें अपने आप आकर्षित कर लेते। जिनमें गुणवत्ता है ही नहीं जिनमें केवल विषम ध्रुव ही हैं, विषय वासनाएं ही हैं। उन्हें उतने ही जोर से विसर्जित कर देते। यह घटना अपने आप हो जाती। जिसका परिणाम होता समाज को आंदोलित हो जाना। उस बुद्धत्व वाले व्यक्ति को अब समाज पत्थर भी मारता है। गाली भी देता है। विष भी देता है। दुख भी देता है। इन विक्षिप्त व्यक्तियों के पास जो भी साधन होता उसे प्रदान करते। वह व्यक्ति तीर्थंकर की तरह, बुद्ध की तरह, कृष्ण की तरह, कबीर की तरह, मूसा की तरह, नानक की तरह करुणावश गाली सुन लेता है। उसे इन विक्षिप्तों पर दया भी आती। इन अज्ञानियों पर, करुणावश अनायास ही क्षमा करते जाते हैं। परंतु ये अपना पाठ पढ़ा ही देते हैं। अपना सबक सिखा ही देते। भले ही उसके कक्षा में, विद्यालय में एक ही विद्यार्थी आए। उस विद्यार्थी में अपना सबकुछ उड़ेल देना चाहते हैं। किसी-किसी निर्वाण शरीर को एक भी शिष्य नहीं मिलता। वह बेचारा हो जाता है। अपने में मस्त रहते हुए संसारी लोगों को देखता ही चला जाता है। उससे बहुत कुछ लिया जा सकता था। परंतु रूढ़िवादी, परंपरवादी, अतिवादी उन्हें देखते तक नहीं हैं। ये अपने पुस्तकीय ज्ञान को ही धर्म समझ लेते हैं। मजहब को ही धर्म समझ लेते हैं।

चूंकि वे साक्षात करुणा की मूर्ति जो होते। इन्हीं कारणों से इनका जन्म अवतार कहा जाता। इनकी मृत्यु निर्वाण कहा जाता है। इस अवतरण में संपूर्ण सृष्टि ही साथ देती है। तब कहीं मानवता पुष्प रूपी महामानव सद्गुरु के रूप में आता है। पुरानी व्यवस्था को ध्वस्त कर नई व्यवस्था, मंत्र-तंत्र ध्यान की विधि, नीति नियम देकर नए समाज की सरंचना करता है। जिसे पुराने रुढ़िवादी बरदाश्त नहीं करते एवं विद्रोह करते हैं। वे नासमझ तथाकथित धर्म के ठेकेदार ही इस समाज को कुरूप करते हैं। इन्हीं का प्रकोप इस अवतरण को भोगना पड़ता है।

एक साक्षात्कार—मैं अपने गुरु देव से लगभग 1974 में अष्टांग योग सीख रहा था। उनके द्वारा ही निर्मित गुफा में ही ध्यान करता। उनका आदेश था, तू कुछ भी प्रश्न मानसिक रूप से करना। अब तुमसे सारी बातें मौन की होंगी। बहुत हो चुकीं इस मुंह से बातें। योगी जन मौन बातें करते। मैं भी मौन साधना करने लगता, धीरे-धीरे अभ्यास काल में देखा कि मन में भी प्रश्न उत्पन्न होता, गुरुदेव बहुत ही सूक्ष्म ढंग से उसका निराकरण कर देते। उस निराकरण से मन साधना में सहज प्रवृति में रहता। आनंदित रहता। लगातार 21 दिन एवं पुनः 45 दिन की अखण्ड गोपनीय साधना गुफा में करता रहा था। सारा उत्तर भी वहीं मिलता रहा। जैसे-जैसे अनुभव होता। मन तो प्रफुल्लित होता। जगत की निःसारता प्रत्यक्ष मालूम होती। एक रात्रि मुझे इच्छा हुई, अब इस आश्रम का परित्याग कर हिमालय चलना चाहिए। क्या जरूरत है आश्रम की ? क्या जरूरत है इस संसार की ? सब मिथ्या है। बस वही सत्य है जिसमें हम अब जा रहे हैं। अंतर्मुखी होने पर आनंद ही आनंद है। बहिर्मुख होने पर दुख ही दुख। तब इस दुख से भरे संसार में रहने की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि प्रश्नों से मन आंदोलित हो रहा था। वैराग्य से मन-बुद्धि भर गई थी। अतएव पूर्णिमा की रात्रि थी। सोचा, आज बारह बजे रात्रि को आश्रम छोड़ दे। पहुंच जाए हिमालय की गोद में। घड़ी देखा, ठीक बारह ही बज रहा था। बस मैं दीपक जलाया, एक पत्र लिख दिया। गुरुदेव को संबोधित करके। मैं इस आश्रम को छोड़कर, संसार को छोड़ कर जा रहा हूं। जहां न ही कोई अपना न ही कोई पराया है। इस संसार में भाई का भाई से, पुत्र का पिता से, पत्नी का पति से, सबका संबंध अर्थ से है। यदि अर्थ (रुपया) नहीं देता तो कहीं किसी का कोई संबंध नहीं। कोई रिश्ता नहीं। इतना ही नहीं गुरुदेव अधिकांश आश्रम में गुरु शिष्य का संबंध भी अर्थ पर निर्भर है। अन्यथा सबकुछ अनर्थ है। इस अनर्थकारी दुनिया में अब मेरे लिए रहना संभव नहीं इत्यादि। यह लिखकर पत्र गुफा में रख छोड़ा। गुरुदेव ठीक चार बजे स्नान के लिए गंगा में

उतरते थे। उस समय एक कोने में गुफा में रहता। दूसरी तरफ लगभग दो सौ गज की दूरी पर गंगा के किनारे की कुटी में गुरुदेव और भक्तगण दिन भर रहते। सत्संग करके 8 बजे तक चले जाते। निर्जन वन। गंगा की कलकल ध्वनि एवं कुछ सर्प, बिच्छू या पक्षी ही रह जाते। रात्रि की साधना में कुछ दूरी पर श्मशान, तथा केवलगाह। अतएव होते तो भूत-प्रेत या जीव खैर मैं पत्र रखकर दीपक ज्योति जो तिल के तेल में ही वहां जलता था बुझा दिया। बाहर निकल आया। खड़ाऊं बगल में दबा लिया कि कहीं आवाज न हो जाए। ज्यों ही गुफा के बाहर दो ही कदम रखा था। आश्चर्य गुरुदेव मानो सबकुछ देख रहे हैं। आवाज दिए मेरा नाम संबोधित कर। मुझे बुलाए। रात्रि का बारह बजकर तीस मिनट हो रहा था। वातावरण बिलकुल शांत था। शरद का मौसम था। वे अंदर के किवाड़ कभी नहीं बंद करते। अंदर से आवाज दिए, आ जाओ मैं यंत्रवत अंदर गया। देखा गुरुदेव पद्मासन पर विराजमान मुस्करा रहे थे। बोले, दीपक जला दो, मैं जला दिया। पुनः बोले, मेरे निमित्त पत्र लिखा है। पत्र लेते आओ। मैं पत्र गुफा में लेकर आ गया। अब कठोर शब्दों में आदेशित किए। तुम्हारा पत्र लिखना मेरा पढ़ना दोनों साथ-साथ हो गया। पत्र को दीपक की मदद से जला दो। मैं जला दिया। मुझे आदेश दिया बैठ जाओ। मैं यंत्रवत बैठ गया।

गुरुदेव सहजावस्था में मुस्कराते हुए बोले, तू पत्र दीपक में जला दिया। अब अपने संस्कारों को ज्ञान रूपी दीपक से कब जलाएगा ? क्या कर लेगा हिमालय जाकर ? बर्फ से शरीर गला लेगा। शीतल हवा से शरीर को ठंडा कर लेगा। अब मन का क्या होगा ? तुम्हारे संस्कारों का क्या होगा ? जिसने तुम्हें जन्म दिया क्या उसके प्रति तुम्हारा उत्तरदायित्व समाप्त हो गया ? जिसने पढ़ाया, खिलाया उसके प्रति क्यों कर्तव्य नहीं करता ? जिस पृथ्वी मां पर खेला-कूदा क्या उसके प्रति कोई कर्तव्य नहीं ? इस जगत को तुमसे कुछ अपेक्षाएं है। उसका क्या होगा ? कछुवा तो हिमालय में ही रहता। बहुत से पशु-पक्षी हिमालय में ही रहते, क्या हो जाता उनकी मुक्ति का ? हिमालय की गोद में सैकड़ों गांव बसे हैं। क्या उनको कुछ मिल गया है ? कौन तीर्थंकर, कौन बुद्ध, कौन तुम्हारे भगवान भाग कर गए हैं हिमालय में ? जो कोई गया भी है, पाकर इस धरती मां पर वापस लौटकर यहां मुक्त हाथों बांट दिया है। अपने कर्तव्य से मुक्त हुआ, इसी धराधाम पर। गुरु के निर्देशन में तप करना एवं जगत हित में कार्य मुक्ति का मार्ग है।

मैंने उदास होकर कहा, गुरुदेव मैं निर्वाण को प्राप्त करना चाहता हूं। जो यहां संभव नहीं है। आप जो जानते थे हमें वही दिए। अब आगे जाने का मुझे

आदेश दीजिए। गुरुदेव हंसते हुए बोले, तू बालक है। अभी अबोध है। सब तुझे मिलेगा। यहीं मिलेगा। हम देंगे तू ग्रहण करते तो जाओ। जितना तू लेना चाहता है। उससे ज्यादा व्यग्रता है हमें देने की। मैं तो चाहता हूं एक क्षण में पूरा सागर ही भर दूं। तुम्हारे गागर में। तुम मुंह तो खोलो अपने गागर का। चल देख मेरी तरफ ध्यान से देख आज देख ले निर्वाण को। जिससे तुझे आसानी होगी, आगे की यात्रा तय करने में। बस देखते जा।

मैं सप्रेम पूर्ण श्रद्धा से सिद्धासन पर बैठा गुरुदेव को देख रहा था। गुरुदेव शांत बैठे थे। मुस्कुरा रहे थे। एकाएक कमरे का वातावरण बदल गया। चारों तरफ सुगंध फैल गई। मानो बसंत ऋतु ही कमरे में प्रवेश कर गई। सबकुछ बदल गया। मैं उत्सुकतावश देख रहा था। गुरुदेव का पार्थिव शरीर धीरे-धीरे गायब हो रहा है। प्रकाश वहां धीरे जगमगा रहा है। कुछ ही क्षण में उसके स्थान पर पूरा का पूरा प्रकाश था। पूरा कमरा चकाचौंध हो गया। मैं अब अपने में नहीं था। उस प्रकाश में स्वयम् प्रकाशित होते हुए आनंदित होते देखे जा रहा था। सारा वातावरण बदला था। वहां प्रकाश ही प्रकाश। प्रकाश के सिवाय कुछ नहीं। वह प्रकाश आनंदमय, करुणामय, दिव्य था। न सुना था, न ही इसके पूर्व इस तरह की कल्पना ही की थी। मानो निमित्त मात्र देखते जा रहा था। प्रथम बार स्वयम् द्रष्टा का भान हुआ। कुछ देर के बाद देखा वह प्रकाश धीरे-धीरे गायब हो रहा है। धीरे-धीरे गुरुदेव का शरीर आभा से परिपूर्ण प्रगट हो रहा है। कुछ ही काल के बाद देख रहे हैं। गुरुदेव मुस्कुराते हुए बोले—देख लिया निर्वाण, देख लिया शून्य, देख लिया महामृत्यु। यही है क्रांति महा जीवन की। इसे अपने में उतारना होगा। अब देर मत करो। करते जाओ पूर्ण समर्पण भाव से। अब अपना कुछ रखो ही मत, अब हमें दे दो जो भी तुम्हारे पास है। तब मैं जो कुछ दूंगा ले सकते हो, रख सकते हो। मैं श्रद्धा से झुक गया उनके चरणों में। अब उनके चरणों से उठने का जी नहीं कर रहा था। मैंने हृदय से कहा मेरा तो कुछ है ही नहीं। गुरुदेव सब तेरा। मेरा अब अस्तित्व नहीं, अब तू ही है जो कुछ करना चाहो कर लो, मैं निमित्त मात्र हूं।

उपरोक्त यह दिव्य अनुभूति नहीं चाहते हुए भी प्रसंगवश एवं कुछ साधकों के जिज्ञासावश कह दिया। संभवतः आपको कुछ फायदा हो जाए। आप अपने अंतर की यात्रा की शुरुआत कर दें। अपने आप में उपलब्ध हो सकें जीवन् की महाक्रांति को। यह एक घटना है जो आपको अपने आप अनायास ही उपलब्ध हो जाएगी। जब तक हम करते हैं योग-तप, मंत्र अनुष्ठान पाते कुछ भी नहीं। ये सब करने से मात्र यही ज्ञान होता है कि यह भी सत्य

नहीं है। अतः यह अपने आप छूट जाता है। सत्य की तरफ अग्रसरित हो जाता है। यहां न कुछ करना न कुछ पाना है। संभवतः बुद्ध से भी पूछा गया। क्या तूने किया ? कैसे तू पाया ? बुद्ध मात्र यही इशारा कर सके। जब तक कुछ करता रहा, पा नहीं सका। जब सबकुछ करना छोड़ दिया पा लिया, उपलब्ध हो गया पाना या उपलब्ध होना कहा जाए तो यह भी भिन्नता है। वह तो पहले से ही था। हमने साक्षात्कार कर लिया। यह भी कैसे कहा गया, जो पहले से था। वह प्रत्यक्ष हो गया। बस अब बाहर भीतर मात्र वही ही रह गया।

इस स्थिति को पहुंचा हुआ योगी ही देह मान अभिमान का परित्याग कर जगत हित में कुछ कर सकता है। यह स्वयं चौथे-पांचवें शरीर में आकर करुणा वश रहता है। यथा सतगुरु कबीर कहते हैं–

"देह मान अभिमान के, निरहंकारी होय।
वर्न कर्म कुल जाति ते, हंस निनारा होय॥
जग विलास है देह को, साधु करो विचार।
सेवा साधन मन कर्म ते, जथा भगति उर धार॥

दीक्षा–

दीक्षा–यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण शब्द है। इस शब्द का अर्थ अभी विकृत हो गया है। जन साधारण दीक्षा का अर्थ समझते हैं, कान फूंक देना। कान में कोई मंत्र कह देना। बस कान फूंकने वाला बांध देता है एवं फुंकाने वाले का अब चलता है शोषण अनवरत। दीक्षा देने वाला परजीवी लता की तरह हो जाता है। जैसे अमर बेल लता की अपनी जड़ ही नहीं होती। किसी भी पेड़ के हरे भाग पर फैल जाती है। वह पूरे पेड़ पर फैलती जाती, पेड़ सूखता जाता। जब वह सूख जाता तो वह दूसरे पेड़ का दामन पकड़ लेती। इस तरह अपना नाम अमर बेल रख लेती। यही स्थिति है आज के पुरोहिती दीक्षा की। दीक्षा का अर्थ हुआ कि विद्यार्थी एक खास समय तक विद्याध्ययन करता है। इसके बाद दीक्षांत समारोह में भाग लेता है। यानी जो भी ग्रहण आज तक किया है उसे पूरी तरह अपने जीवन में उतार ले। उस विराट को अब अपने में अवतरित कर ले। मुक्त हो जाए। दीक्षा का अर्थ हुआ स्वतंत्रता, मुक्तता। क्या अमुक व्यक्ति मुक्त कर सकता है ? ऐसा संभव नहीं। दीक्षा को आपके जीवन में उतारा जा सकता है। गुरु तो साक्षी होता है। गवाह होता है। विटनेस होता है। मैं काशी एक आश्रम में रहा था। साधना पर प्रवचन दे रहा था। कुछ युवक सीख रहे थे। एक 40-50 वर्ष के संन्यासी आए एवं हमसे निवेदन किया

कि महाराज जी आपसे अकेले में मिलना चाहता हूं। मैं उससे कह दिया एक घंटा बैठो। इन लोगों से खाली हो जाता हूं। फिर आपसे बातें होंगी। उन युवकों को विदा कर मैं उस संन्यासी जी से मिला। वे बोले, स्वामी जी मैं फलां मठ का महंत हूं। आचार्य पास कर शोध भी पूरा कर लिया हूं। प्रवचन भी करता हूं। मेरे भक्त भी बहुत हैं। साल में लगभग नौ माह भक्तों के यहां घूमकर प्रवचन ही करता हूं। सालभर में लाखों का चढ़ावा भी आता है। जब कोई साधक ध्यान के विषय में बातें करता तो बहुत अटपटी सी लगती है। मैं तो सीधा कह देता आंख बंद कर लो। इसी से आप से एकांत में मिलने आया। आखिर ध्यान है क्या बला ? मैं आप से दीक्षा नहीं लूंगा क्योंकि में दीक्षा अपने गुरु जी से ले चुका हूं एवं शिष्य भी बना रहा हूं। आप हमें सिर्फ ध्यान बता दें। वह भी अकेले में। कोई जाने भी नहीं अन्यथा हमारी बदनामी होगी हां, आपको मैं भेंट पूरा दूंगा। आप जो भी मांगें मैं तुरंत दूंगा। अभी आप रखें पांच सौ रुपये। और अपने मठ से लाकर दे दूंगा। आपको अपने आश्रम पर भी ले चलूंगा। परंतु स्वामी जी आप बुरा न मानेंगे। वहां का महंत हूं न, आपका प्रवचन होगा। बस वहां मेरा आसन कुछ आप से ऊंचा होगा ? जिससे हमारी भी प्रतिष्ठा बनी रहेगी। हमारे शिष्य हमें भी ध्यानी, ज्ञानी मानते रहेंगे। आपको चढ़ावा मिलेगा। मैं सोचता हूं आपको इसमें एतराज नहीं होगा। महंत जी एक स्वर में इतना कह गए। विद्वान जो ठहरे।

मैंने उनसे कहा, महंत जी ! सबसे पहले अपना रुपया आप संभाल कर अपने पास रख लें। मुझे यह विचित्र लग रहा है कि आप ध्यान में बिना प्रवेश किए दीक्षा ले लिए एवं दीक्षा दे भी रहे हैं। मैं यहां लोगों को ध्यान सिखा रहा हूं। दीक्षा नहीं दे रहा हूं। जो भी साधक ध्यान को उपलब्ध हो जाता है। उसका मैं साक्षी हो जाता हूं। साधक एवं साध्य की उपस्थिति का मात्र साक्षी।

यही स्थिति पुरोहिती सान्निध्य में होती है। दीक्षा पहले मंत्र पहले ध्यान कभी नहीं। यह बंधन है, यह तो परतंत्रता है। मैं दीक्षा में आपके सहस्रार को खोलता हूं। उसमें मंत्र, देवास्त्र, दिव्यास्त्र को आरोपित करता हूं। शक्तिपात कर आत्म तत्व के चारों तरफ के मलावरण को साफ करता हूं। जिससे उचित पात्र को शीघ्र ही शक्ति एवं आत्म तत्व का ज्ञान हो जाता है। अन्य सभी को साधना काल में समुचित उन्नति होती है। चूंकि मेरे द्वारा आपके हृदय में आरोपित मंत्र-यंत्र-देवास्त्र-दिव्यास्त्र कभी भी व्यर्थ नहीं जाएंगे। समय का भाग्यशाली साधक इसका फायदा अवश्य उठाएगा।

भगवान बुद्ध भी दीक्षा तुरंत नहीं देते थे। कहते थे पहले, ध्यान करो,

रुको दो-चार वर्ष फिर देखा जाएगा। तब साधक ध्यान सीख लेता तब तीन चरणों से दीक्षा देते। पहले बुद्धं शरणं गच्छामि—जैसे कृष्ण ने कहा है 'सर्व धंर्म परित्यक्त् मामेकम शरणम् व्रज।' यानी बाह्य सभी तथाकथित धर्मों का परित्याग करो। अपने शरण में स्थित हो जाओ—अर्जुन। वही बुद्ध भी कहते। बुद्ध के शरण में चले जाओ। जो भी व्यक्ति बुद्धत्व को उपलब्ध हो गया हो। जब बुद्ध की शरण में चला जाता है तब 'संघम् शरणम् गच्छामि'। बुद्धों का जो समूह है, समुदाय है उसमें शामिल हो जाओ। अपना अस्तित्व खो दो, मिल जाओ महासमुद्र में। अपना अब रखो ही नहीं। जब संघ की शरण चले गए तब अंतिम या 'धमम् शरणम् गच्छामि।' अब तो आप धर्म की शरण में स्वतः ही चले जाएगे। धर्म को आप स्वतः ही उपलब्ध हो जाएंगे। यह रही परंपरा दीक्षा की।

अब प्रश्न उठता है कौन करेगा। इतना इंतजार ? कौन कराएगा इतना इंतजार ? कहीं शिष्य छिटक कर दूसरे के यहां न चला जाए। या शिष्य जहां जल्द ही दीक्षा का तथाकथित प्रारूप पूरा कर लें। गुरु मुख हो जाए। कान फुंकवा ले। प्रमाण पत्र किसी तरह ले ले स्वर्ग जाने का बस और क्या चाहिए। आजकल सबकुछ के लिए जल्दबाजी है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

शीश दिए जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।

यह सौदा बहुत महंगा है। शीश देकर भी यदि गुरु मिल जाए तब भी सौदा सस्ता है। ऐसा क्यों ? जरा आप ध्यान देकर समझें। बिना शीश दिए तो गुरु मिलता ही नहीं, शीश यानी अहंकार। अहंकार को मिटाना ही होगा। मुझे एक कहानी याद आ गई। एक राजा शांति के लिए बेचैन था। वह चारों तरफ घूम आया। सब तीर्थ घूमकर आया। व्रत भी कर लिया। यज्ञ भी कर लिया। दान दक्षिणा भी दिया परंतु है अशांत। किसी ने उसे बताया महाराज आप कहां घूमते हैं। देश-विदेश। आपकी राजधानी के बाहर एक संत रहता है। छोटी-सी झोंपड़ी में आप उससे मिल तो लें। राजा पूछता है। क्या वहां कोई मंदिर है ? क्या गुरुद्वारा है ? वह वृद्ध व्यक्ति बोला, नहीं वहां कुछ भी नहीं है। मात्र शरीर छिपाने भर झोंपड़ी। वह रहता है अकेले। राजा अनमने-सा पहुंच गया। देखा उस झोंपड़ी में महात्मा जी बैठे थे, मौन थे। उसके इर्द-गिर्द दो चार व्यक्ति भी मौन थे। संभवतः मौन वार्ता चल रही थी। राजा अपने जीवन में प्रथम बार किसी झोंपड़ी के दरवाजे पर खड़ा था। कुछ मांगने। साहस बटोर कर अंदर गया। पूछा, महात्मन् मैं शांति के लिए यहां आया हूं। क्या शांति मिल सकती है ? फकीर बोला, हां। शांति भी तुम्हें खोज रही है। राजा बहुत ही विक्षिप्त हुआ। बोला,

शांति मुझे खोज रही है। यह कैसे ? फकीर बोला, राजन तुझे शांति चाहिए तो आज इसी झोंपड़ी में रुक जा। कल यह कटोरा लेकर इस नगर में भीख मांगकर लाना। राजा ने कहा यह कैसे होगा ? आप को जानना चाहिए, मैं इसी नगर का सम्राट हूं। अपने ही नगर में कैसे भिक्षा मांगूंगा। फकीर ने कहा कि फिर शांति कैसे मिलेगी। तुम्हे तो मांगना है इसी नगर में अन्यत्र कहीं नहीं। रहना है इसी झोंपड़ी में। यह सब राजा के लिए असंभव था, परंतु बहुत हिम्मत वाला था वह राजा।

राजा कुछ देर उस झोंपड़ी में फकीर के सान्निध्य में बैठ गया मौन, बिलकुल मौन। फिर बोला, ठीक है। महात्मन मैं आज अभी से यही रुकूंगा। कल प्रातः ही भिक्षाटन पर निकल जाऊंगा। राजा रात्रि भर उस झोंपड़ी में जमीन पर ही सो गया। यह भी जीवन में पहली घटना थी। रात्रि में ऐसा सोया मानो महल में भी नहीं सोता था। प्रातः तरोताजा लग रहा था। फकीर कहा, उठा लो वह कटोरा। चले जाओ नगर में। मांग लाओ भिक्षा, राजा चला गया। पहले कुछ अजीब-सा लगा। फिर उसका अहंकार गिर गया। सब मोह भंग हो गया। शाम को राजा भिक्षा लेकर आया। अब वह प्रसन्न था। उसे पता नहीं था कि भिक्षा में ही दीक्षा संभव है क्या ? अब वह मान, अहंकार, लोभ, काम से अपने को अचानक मुक्त पाया। राजा दो दिन तक भिक्षाटन किया। तीन दिन के बाद फकीर बोला, राजन अब पूछो, क्या पूछना है ? राजा बोला, महाराज हमारे पास कोई प्रश्न ही नहीं है। मैं जीवन में यहीं पहली बार प्रश्न एवं उत्तर से मुक्त हूं। इतना कहकर वह गिर गया फकीर के चरणों में। अपना मस्तक रख दिया फकीर के चरणों में। फकीर का हाथ भी प्रेम से लबा-लब भरा हुआ अनायास ही चला गया राजा के सिर पर। बस हो गया सब सहज। हो गया दीक्षा, हो गया शक्तिपात। हो गई वह घटना जो अनहोनी थी। जिसकी खोज में राजा वर्षों से भटका। सद्गुरु कबीर साहब भी गुरुमुख के संबंध में कहे हैं—

आस्ति आत्मा राम है, माया मन क्रित नास्त।
या की पारख लहै जथा, बीजक गुरु मुख आस्त।

इस तरह दीक्षा साधक को दक्ष बनाती है। निपुण बनाता है। गुरु-शिष्य के बीच एक सेतु का काम करती है। जिसके माध्यम से गुरु शिष्य में पूरा का पूरा प्रवेश कर जाता है। तब शिष्य हो जाता है गुरु तुल्य, परम पवित्र। जिसके जीवन में यह पवित्रता, दक्षता, नहीं आती वह अपूर्ण रह जाता है। इसी से कहा गया है कि अदीक्षित व्यक्ति जहां खड़ा होता वहां की मिट्टी भी अपवित्र हो

जाती है। यह व्यक्ति कोई भी पवित्र काम कर ही नहीं सकता। दीक्षा उपरांत ही साधक द्विज बनता है। उसका दुबारा जन्म होता है। परमात्मा के राज्य में प्रवेश करने का अधिकारी बनता है। अब उसमें दिव्य शक्तियां स्वतः प्रवेश करने लगेंगी। गुरु हर समय, हर क्षण उसका अवलोकन करता है। अवसर पाते ही उसमें उस अनमोल हीरे को रेख देता है। शिष्य भी गुरु के समान बन जाता है।

चरण स्पर्श–

ऊर्जा हर समय सिद्ध पुरुषों से निःसरित होती है। अतएव उनके समीप बैठने का भी अपना अर्थ रखता है। ऊर्जा अनायास ही सामने वाले पर बरस जाती है। परंतु ऊर्जा ग्रहण करने वाले के लिए भी पात्रता चाहिए। दो व्यक्ति एक साथ किसी गुरु के नजदीक जाते। मौन ही बैठते। एक कहता मैं तो बहुत कुछ पा लिया दूसरा कहता यह कैसे ? वह तो अति साधारण व्यक्ति है। जैसे दो घड़ा एक साथ गंगा में डुबो दो एक का मुंह बंद कर दो एक का मुंह खोल दो दोनों को पानी से बाहर निकालो, एक अपने आप ऊपर आ जाएगा। एक बाहर आने का नाम नहीं लेता। आता तो एक जल से लबा-लब भरा होगा। दूसरा बिलकुल खाली। दोनों तो कहते हम दोनों तो साथ-साथ गंगा गए, साथ-साथ छलांग लगाए। मुझे तो कुछ भी नहीं मिला। वही स्थिति है जानने वालों की। बादल तो बरसता है बराबर चाहे वह पर्वत हो या नदी हो या सागर हो। जिसमें जितनी ग्राहकता होती वह उतना ग्रहण करता।

जब साधक पूर्ण समर्पण से गुरु के नजदीक झुकता है, साष्टांग दण्डवत करता है। अपना पूरा सिर ही गुरु के चरणों पर रख देता है। सोच लेता है अब गुरु ही हममें प्रवेश कर जाए। अब किसी भी प्रकार का अवरोध नहीं है। अहंकार गिर गया है। काम विदा हो गया है। लोभ मोह भाग गया है। अब मात्र गुरुदेव तू ही तो है। यदि सचमुच समर्पण हो जाए तो एक अद्भुत घटना घटती है। जैसे आप जानते हैं। ऊर्जा गुरुदेव के सबसे पहले छोटे अंगों से ही निकलती हैं। पैर से, हाथ की अंगुलियों से। जैसे ही साधक पूर्ण समर्पण से गुरु के पैर पर गिरता है। उसके पैर से अनायास ही ऊर्जा निकलकर साधक के सिर में प्रवेश करने लगती है तथा गुरु का हाथ भी स्वतः शिष्य के सिर पर चला जाता है। बस घटना घट जाती है। पैर एवं हाथ दोनों से ऊर्जा का निःसरण स्वतः हो जाता है। मन से भी आशीर्वाद निकल ही जाता है। यदि शिष्य सचमुच समर्पण के भाव से गिरता है तो पा जाता है। जो उसके लिए असंभव

या जन्मों लग सकता था। समर्पण मात्र से गुरु कृपा साधक को तीसरे चौथे शरीर पर ला खड़ा करती है। जहां से साधक की अन्य आगे की यात्रा सहज एवं सुलभ हो जाती है। साष्टांग प्रणाम तो पूर्ण समर्पण में ही संभव है।

यह साष्टांग—दण्डवत गुरु एवं साधक के बीच की कड़ी है। भारतीय मुनि ऋषियों का आविष्कार है। जो आगे चलकर एक मिथक बन गया है। परंपरा बन गई है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने से ज्यादा उम्र के सामने झुकने लगा। इतना ही नहीं इस परंपरा को तथाकथित आज के नेतागण और विकृत कर दिए। यह पूर्णतः सक्षम गुरु एवं समर्थ शिष्य के लिए शक्ति पात, का एक अनोखा रास्ता है। क्षणमात्र में शिष्य शक्ति से भर जाता है। जो युगों के तप से भी संभव नहीं था।

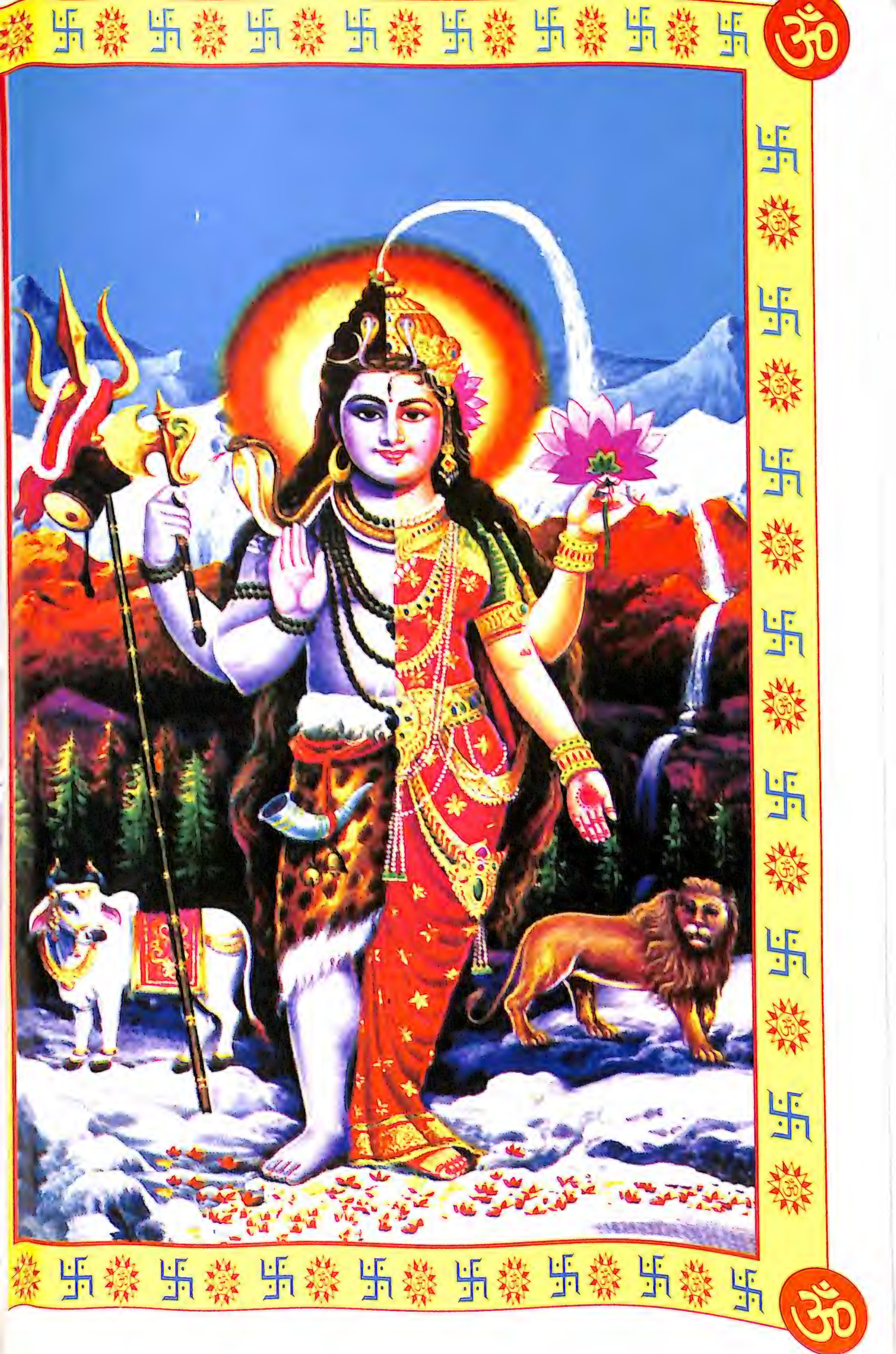
अर्द्धनारीश्वर—

यह शब्द भी अत्यंत महत्व का है। हमारे ऋषिगण कोई भी शब्द यों ही नहीं प्रयोग किए है। उस पर बहुत सोचा है। समझा है, मनन किया है। आप भगवान शिव की प्रतिमा देखे होंगे उसमें आधा भाग नारी का है, आधा भाग पुरुष का है। इस तरह का चित्र भी भारत की ही खोज है। दुनिया में बेमिसाल है यह चित्र। प्रत्येक पुरुष के अंदर एक स्त्री भी है। वही स्त्री वह बाहर खोजता है। वह उसे नहीं मिल पाती। उसे अज्ञात अशांति है। उसे अज्ञात अतृप्ति है। जिसको उपलब्ध नहीं हो पाता। बार-बार बाहर की स्त्री में खोज रहा है। उसी तरह प्रत्येक स्त्री में भी उसके अंदर पुरुष है जिसे वह बाहर खोज रही है। इसका भी वही हाल है जो पुरुष का है। दोनों अतृप्त हैं। दोनों अशांत हैं। बाहर की दौड़ से जब पुरुष अंदर की स्त्री को पकड़ लेता है। अंदर ही मैथुन में प्रवेश कर जाता है। बस पूरा हो गया उसका यात्रा। अब बाहर कहां खोजेगा अन्य स्त्री को। ठीक उसी तरह स्त्री भी अपने अंदर के पुरुष को पहचान लेती है। तो उसे अब बाहर के पुरुष की जरूरत नहीं पड़ती। अब वह अंदर मैथुन में प्रवेश कर जाती। अंदर मैथुन में जाते ही वह ऊर्जा से भर जाती। प्रेम से लबा-लब हो जाती है। बहुत ही उल्टी क्रिया है बाहर के मैथुन में शक्ति का ह्रास होता। दोनों शिथिल होते। अंतर मैथुन में नई शक्ति से भर जाते। एक प्रकार से शक्ति का वर्तुल बन जाता है। इसी ऊर्जा के वर्तुल को अर्द्धनारीश्वर के रूप में जाना जाता है। यह अर्द्धनारीश्वर अपने आप में पूर्ण है।

कहते हैं मीरा अपने अंदर के पुरुष को पहचान गई, कृष्ण के रूप में।



अर्द्धनारीश्वर



अब उसके लिए सारे जगत के पुरुष निरर्थक थे। जगत के पुरुष को वह पुरुष मानने पर तैयार ही नहीं थी। एक बार वह वृंदावन में गई। जहां का पुजारी जीव स्वामी औरतों से नहीं मिलते थे। सख्त पाबंदी थी औरतों पर। मीरा तो गाते नाचते अंदर चली गई। भक्तगण रोके। मीरा यहां औरत नहीं जा सकती। केवल पुरुष ही जा सकता। मीरा अपने ही मस्ती से बोली कौन है दूसरा पुरुष। मेरे देखने में तो कृष्ण को छोड़कर इस जगत में दूसरा पुरुष है ही नहीं। जाकर पुजारी से संदेश दिया गया। मीरा नाम की औरत प्रवेश कर गई है। वह देखना चाहती है कि कृष्ण को छोड़कर कौन है दूसरा पुरुष। बस इतना सुनना था कि पुजारी दौड़कर मीरा के चरणों में अपने को समर्पित कर दिया। मीरा का हाथ प्रेम से उस पुजारी के सिर पर चला ही गया। बस घट गई घटना। पा गया वह पुजारी जिसके लिए वह वर्षों से प्रतीक्षा कर रहा था। आप आज भी वृंदावन जाकर जीव स्वामी का आश्रम देख सकते हैं। वहां मीरा की ऊर्जा ग्रहण कर सकते हैं। वहां समर्पण मात्र से मीरा की ऊर्जा स्वामी में प्रवेश कर गई। अब वे बन गए, अर्द्धनारीश्वर का प्रतीक। पूर्ण ब्रह्मचारी।

जब कोई भी साधक अपने अंदर के स्त्री या पुरुष को पहचान लेता बस वह हो जाता है अर्द्धनारीश्वर। यह अनमोल घटना है। अपने आप सहज भाव से घट जाती है। मात्र अपने को घटना के लिए तैयार रखना है। वह तो सब आपके अंदर ही है। हमारी वृत्तियां बाह्य हो गई हैं। जिसका परिणाम है बाहर की पूजा। ज्यों-ज्यों साधक अंदर यात्रा करता है। त्यों-त्यों पाता है उस अनंत को जिसके जन्मों का प्यासा था जिसकी खोज में भटक रहा था। अपने अंदर रमण करना ही ब्रह्मचर्य का फूल खिलना है। यही वर्तुलम पूरा होता जिसे सामने से देखने पर पुरुष दिखाई देता है। पीछे से देखने पर स्त्री। यही है अर्द्धनारीश्वर। यात्रा चक्र पूरा होता है।

माला या फोटो–

माला या फोटो का महत्व–यह भी भारतीय ऋषियों का ही अन्वेषण है। यह अत्यंत ही महत्व का है। यदि साधक सच्चे हृदय से, संपूर्ण भाव से गुरु के नजदीक जाता है, तो गुरु दीक्षा के उपरांत उसे एक माला या कण्ठी उपहार स्वरूप प्रदान करता है। इसी से भारतीय दर्शन में गुरु द्वारा प्रदत्त कण्ठी को हीरा भी कहा जाता है। हीरा का अर्थ अत्यंत कीमती। उसकी कीमत आंकी ही नहीं जा सकती। क्योंकि सिद्ध गुरु जब भी किसी वचन के साथ, वादे के साथ शिष्य को कण्ठी या माला स्वेच्छा से प्रदान करता है तो शिष्य के साथ

सूक्ष्म रूप से वह होता है। चूंकि वह गुरु के वादे का प्रतीक है। शिष्य कहीं भी जाता है। साधना छोड़ देता है, या किसी भी गलत आचरण में पड़ जाता है। गुरु अपने वादे के अनुसार तुरंत रोकने का प्रयास करता है। यह अनुभव शिष्य के अंतर्मुखी होने पर स्वतः मालूम होने लगता है। वह माला आपको संध्या-वंदना करने के लिए बाध्य करती है। अनजाने आपके अंदर रासायनिक परिवर्तन होने लगता है। एक दिन ऐसा आता है कि आप पूर्ण रूपेण बदले होते हैं।

आज से मात्र दो वर्ष पहले का एक संस्मरण आपको बता दूं। एक व्यक्ति को मैंने ही दीक्षा दी। वह मेरे मित्र की तरह है। चूंकि जो भी साधक है अब साथ-साथ रहता है तो वह मित्रवत ही हो जाता है। इसी से संभवतः बुद्ध मित्र से ही संबोधित करते थे। वह सरकारी अधिकारी है। एक बार नेपाल गया। जहां अपने मित्रों के साथ घूम फिर कर होटल में ठहर गया। मेरे द्वारा प्रदत्त माला तो धारण किया ही था, परंतु कोई मित्र देख न ले। अन्यथा बैकवर्ड (पिछड़ा) कहेंगे। अतएव माला को अंदर कमीज में ठीक से छिपा कर टाई वगैरह बांध लिया। रात्रि में होटल में शराब एवं मांस का दौर शुरू हुआ। जो आज की तथाकथित आधुनिकता है। एडंवास होने का परिचायक है। वह सोचने लगा, गुरुदेव तो हमसे यह सब खाने-पीने की तो मनाही नहीं किए हैं। यदि नहीं भी खाते तो अन्य अधिकारी हमें क्या कहेंगे ? यही मानसिकता सब को खाए जा रही है। यही मानसिकता अत्यंत भयावह है। जो व्यक्ति को अपने सहज स्वभाव से दूर ले जाती है। खैर वह ज्यों ही गिलास उठाकर अपने मुंह तक ले जाता है। उसे मालूम होता है, अंदर माला से कोई शक्ति निकली एवं गिलास पर हाथ मार दी। गिलास गिर जाता है। सिर घूमने लगता है। वह अनायास कह उठता है मुझे क्षमा कर दो, हम साथ नहीं दे सकते हैं। तबीयत एका-एक खराब हो गई। किसी तरह रात्रि व्यतीत करता है। प्रातः अपने आवास पर लौटकर मेरे द्वारा दी गई प्रतिमा के सामने क्षमा मांगता है। अपनी पत्नी, बच्चों से सारी बात बता देता है। तीसरे दिन अपने परिवार के साथ हमारे यहां आता है। सबकुछ कहकर क्षमा याचना करता है। अब वह अत्यंत प्रसन्न है। परिवार भी आनंदित है। महात्मा की तरह सारे कार्यों का निष्पादन करता है।

जब भी गुरु कुछ भी साधक को अपने हाथ से देता है वह दिखने में साधारण सी वस्तु अनमोल हो जाती है। वह माला, कंठी, छाया चित्र (फोटो) गुरु का प्रतिनिधित्व करती है। चाहे साधक कहीं भी हो वह निर्भय निर्विघ्न साधना करता है। वह विघ्नों का निवारण करता है। यदि जाग्रत गुरु नहीं है तब दिया गया माला या फोटो भी ऐसे ही बेकार हो जाते हैं जैसे आप दुकान

से खरीद लेते हैं। पहन लेते हैं। दिखावे भर का होता है। यह परंपरा जो जाग्रत गुरु शुरू किए अब साधारण बनकर रह गई। मिथक बनकर रह गई। यह भी झूठी परंपरा बनकर रह गई। अब हम परंपरा ही ढोते हैं मुर्दे की तरह।

ठीक उस तरह मंदिरों में स्थापित बहुत प्रतिमा जाग्रत होती हैं। आप अपने आस-पास सुने होंगे कि फलां मंदिर, फलां गुरुद्वारा, फलां समाधि जाग्रत है। वहां जाने पर व्यक्ति अनजाने ही राहत महसूस करता है। अपनी व्यथा को कम पाता है। उसकी मुरादें भी पूरी होती हैं। जो भी मंदिर प्राचीन काल में जाग्रत व्यक्तियों के द्वारा बनाया गया वह जाग्रत रहा। अब उसी के देखा-देखी मृत व्यक्तियों द्वारा मृत मंदिरों के बनाने की होड़ सी लग गई है। कहीं भी जमीन दखल करना हो बस बैठा दो हनुमान जी को, मानो दखली देवता हों। कुछ लोग रातों-रात कब्र बना देते हैं। या गुरुद्वारा ही बना डालते हैं। इसे अब कौन छुएगा। आप जरा ध्यान से सोचें, कौन स्थान भगवान का नहीं है ? केवल नाजायज भूमि दखल करने वाला स्थान ही भगवान का है। किसी को कोई भगवान से लेन-देन नहीं है। यहां प्रश्न है अपने स्वार्थ का। अभी भारत में मुर्दे लोगों की भरमार है। यही कारण है कि रोज-रोज़ नए-नए मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे फसाद अवश्य करा सकते हैं। भगवान के द्वारा बनाए गए इंसान रूपी मंदिर को वह मृत मंदिर अवश्य ध्वस्त कर सकता है। इस तरह यह प्रतिमा शुरू-शुरू में जाग्रत पुरुषों का प्रतिनिधित्व कर रही थी।

माला या फोटो भी उसी तरह यदि जाग्रत गुरु द्वारा शिष्य को दिया गया तो वह अवश्य ही उसके लिए अत्यंत लाभकारी होगा। यह निर्भर करता है ग्रहण करने वाले पर एवं ग्रहण कराने वाले पर अन्यथा यह भी मृत बोझ की तरह ढोना ही होगा। साधक को तत्पर रहना चाहिए तथा समय के सद्‌गुरु से माला, फोटो अवश्य ग्रहण करना चाहिए। यह एक इतिहास बन जाता है। आपको बदलने में समर्थ भी होता है। अन्यथा आप समय चूक जाते हैं। फिर पश्चाताप ही हाथ लगता है।

टोपी या पगड़ी-

यह भी भारतीय संन्यासियों की खोज है। जो अत्यंत वैज्ञानिक है। जिस तरह साधक कुशासन या कंबल का प्रयोग करता है, बैठने के लिए। उसी तरह सर ढंकने के लिए टोपी की या पगड़ी की जरूरत होती है। साधक बैठने के लिए जिन सामग्रियों का प्रयोग करता है वह विद्युत का कुचालक है, जब साधना करता है, तो उसके शरीर से विद्युत धारा प्रवाहित होती है। जो विद्युत

सूक्ष्म रूप से वह होता है। चूंकि वह गुरु के वादे का प्रतीक है। शिष्य कहीं भी जाता है। साधना छोड़ देता है, या किसी भी गलत आचरण में पड़ जाता है। गुरु अपने वादे के अनुसार तुरंत रोकने का प्रयास करता है। यह अनुभव शिष्य के अंतर्मुखी होने पर स्वतः मालूम होने लगता है। वह माला आपको संध्या-वंदना करने के लिए बाध्य करती है। अनजाने आपके अंदर रासायनिक परिवर्तन होने लगता है। एक दिन ऐसा आता है कि आप पूर्ण रूपेण बदले होते हैं।

आज से मात्र दो वर्ष पहले का एक संस्मरण आपको बता दूं। एक व्यक्ति को मैंने ही दीक्षा दी। वह मेरे मित्र की तरह है। चूंकि जो भी साधक है अब साथ-साथ रहता है तो वह मित्रवत ही हो जाता है। इसी से संभवतः बुद्ध मित्र से ही संबोधित करते थे। वह सरकारी अधिकारी है। एक बार नेपाल गया। जहां अपने मित्रों के साथ घूम फिर कर होटल में ठहर गया। मेरे द्वारा प्रदत्त माला तो धारण किया ही था, परंतु कोई मित्र देख न ले। अन्यथा बैकवर्ड (पिछड़ा) कहेंगे। अतएव माला को अंदर कमीज में ठीक से छिपा कर टाई वगैरह बांध लिया। रात्रि में होटल में शराब एवं मांस का दौर शुरू हुआ। जो आज की तथाकथित आधुनिकता है। एडवांस होने का परिचायक है। वह सोचने लगा, गुरुदेव तो हमसे यह सब खाने-पीने की तो मनाही नहीं किए हैं। यदि नहीं भी खाते तो अन्य अधिकारी हमें क्या कहेंगे ? यही मानसिकता सब को खाए जा रही है। यही मानसिकता अत्यंत भयावह है। जो व्यक्ति को अपने सहज स्वभाव से दूर ले जाती है। खैर वह ज्यों ही गिलास उठाकर अपने मुंह तक ले जाता है। उसे मालूम होता है, अंदर माला से कोई शक्ति निकली एवं गिलास पर हाथ मार दी। गिलास गिर जाता है। सिर घूमने लगता है। वह अनायास कह उठता है मुझे क्षमा कर दो, हम साथ नहीं दे सकते हैं। तबीयत एका-एक खराब हो गई। किसी तरह रात्रि व्यतीत करता है। प्रातः अपने आवास पर लौटकर मेरे द्वारा दी गई प्रतिमा के सामने क्षमा मांगता है। अपनी पत्नी, बच्चों से सारी बात बता देता है। तीसरे दिन अपने परिवार के साथ हमारे यहां आता है। सबकुछ कहकर क्षमा याचना करता है। अब वह अत्यंत प्रसन्न है। परिवार भी आनंदित है। महात्मा की तरह सारे कार्यों का निष्पादन करता है।

जब भी गुरु कुछ भी साधक को अपने हाथ से देता है वह दिखने में साधारण सी वस्तु अनमोल हो जाती है। वह माला, कंठी, छाया चित्र (फोटो) गुरु का प्रतिनिधित्व करती है। चाहे साधक कहीं भी हो वह निर्भय निर्विघ्न साधना करता है। वह विघ्नों का निवारण करता है। यदि जाग्रत गुरु नहीं है तब दिया गया माला या फोटो भी ऐसे ही बेकार हो जाते हैं जैसे आप दुकान

से खरीद लेते हैं। पहन लेते हैं। दिखावे भर का होता है। यह परंपरा जो जाग्रत गुरु शुरू किए अब साधारण बनकर रह गई। मिथक बनकर रह गई। यह भी झूठी परंपरा बनकर रह गई। अब हम परंपरा ही ढोते हैं मुर्दे की तरह।

ठीक उस तरह मंदिरों में स्थापित बहुत प्रतिमा जाग्रत होती हैं। आप अपने आस-पास सुने होंगे कि फलां मंदिर, फलां गुरुद्वारा, फलां समाधि जाग्रत है। वहां जाने पर व्यक्ति अनजाने ही राहत महसूस करता है। अपनी व्यथा को कम पाता है। उसकी मुरादें भी पूरी होती हैं। जो भी मंदिर प्राचीन काल में जाग्रत व्यक्तियों के द्वारा बनाया गया वह जाग्रत रहा। अब उसी के देखा-देखी मृत व्यक्तियों द्वारा मृत मंदिरों के बनाने की होड़ सी लग गई है। कहीं भी जमीन दखल करना हो बस बैठा दो हनुमान जी को, मानो दखली देवता हों। कुछ लोग रातों-रात कब्र बना देते हैं। या गुरुद्वारा ही बना डालते हैं। इसे अब कौन छुएगा। आप जरा ध्यान से सोचें, कौन स्थान भगवान का नहीं है ? केवल नाजायज भूमि दखल करने वाला स्थान ही भगवान का है। किसी को कोई भगवान से लेन-देन नहीं है। यहां प्रश्न है अपने स्वार्थ का। अभी भारत में मुर्दे लोगों की भरमार है। यही कारण है कि रोज-रोज नए-नए मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे फसाद अवश्य करा सकते हैं। भगवान के द्वारा बनाए गए इंसान रूपी मंदिर को वह मृत मंदिर अवश्य ध्वस्त कर सकता है। इस तरह यह प्रतिमा शुरू-शुरू में जाग्रत पुरुषों का प्रतिनिधित्व कर रही थी।

माला या फोटो भी उसी तरह यदि जाग्रत गुरु द्वारा शिष्य को दिया गया तो वह अवश्य ही उसके लिए अत्यंत लाभकारी होगा। यह निर्भर करता है ग्रहण करने वाले पर एवं ग्रहण कराने वाले पर अन्यथा यह भी मृत बोझ की तरह ढोना ही होगा। साधक को तत्पर रहना चाहिए तथा समय के सद्गुरु से माला, फोटो अवश्य ग्रहण करना चाहिए। यह एक इतिहास बन जाता है। आपको बदलने में समर्थ भी होता है। अन्यथा आप समय चूक जाते हैं। फिर पश्चाताप ही हाथ लगता है।

टोपी या पगड़ी-

यह भी भारतीय संन्यासियों की खोज है। जो अत्यंत वैज्ञानिक है। जिस तरह साधक कुशासन या कंबल का प्रयोग करता है, बैठने के लिए। उसी तरह सर ढंकने के लिए टोपी की या पगड़ी की जरूरत होती है। साधक बैठने के लिए जिन सामग्रियों का प्रयोग करता है वह विद्युत का कुचालक है, जब साधना करता है, तो उसके शरीर से विद्युत धारा प्रवाहित होती है। जो विद्युत

पगड़ी का महत्व व आसन का प्रयोग

सघन होते हुए वर्तुल बन जाती है। यदि साधक आसन के रूप में लकड़ी, कंबल यानी विद्युत कुचालक पदार्थ पर नहीं बैठता है तो अनायास विद्युत की तरंगें पृथ्वी सोख लेती हैं। जिससे साधक की साधना निरर्थक साबित होती। कभी-कभी यदि साधक ध्यान को उपलब्ध होता। साधक का शरीर ऊर्जा से भर जाता है। वह ऊर्जा बाहर निकलने के लिए सुचालक साधन खोजता, पृथ्वी सुचालक है ही। ज्यों ही वह विद्युत तरंगें जोर-जोर से प्रवाहित होकर पृथ्वी में प्रवेश करतीं साधक को झटका-सा लगता है। कभी-कभी साधक बेहोश भी हो जाते। कभी-कभी वह बेहोशी पागलपन में बदल जाती।

साधक जिस तरह बैठने के लिए कुचालक पदार्थ का प्रयोग करते, ठीक उसी तरह सिर पर टोपी या पगड़ी का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है।

चूंकि ऊर्जा का ह्रास नीचे से अब नहीं हो सकता। अब ऊर्जा ध्यान में उर्द्धगामी हो जाएगी। सिर पर कुछ नहीं होता जिससे ऊर्जा अपने-आप सिर के माध्यम से बाहर निकल जाएगी। इस ऊर्जा के निकलने को साधक महसूस भी नहीं करता एवं उसका निरंतर क्षय भी होता रहता है। साधक को प्रारंभ में आगे बढ़ने में अत्यंत कठिनाई होती है। जिस स्थिति में साधक दस दिन में पहुंच सकता है। वहां पहुंचने में अब उसे 30 दिन का समय लग जाता है। जो अत्यंत अलाभकारी सिद्ध होता। इसी से कहा गया है—

"माला टोपी सुमरनी, सद्‌गुरु दिया बक्शीश।"

(सद्‌गुरु साधक को इनाम के तौर पर दे ही देता है।)

आप सभी देखते हैं कि किसी पूजा में सर पर कपड़ा रख लेते हैं। गुरुद्वारे में जाते समय कपड़ा रख लेते हैं। पगड़ी बांध लेते हैं। ऐसा क्यों ? यह सिद्ध गुरुओं द्वारा अपने शिष्य के लिए दिया गया अद्‌भुत वरदान था। जो अब मिथक धारणा या परंपरा बन कर रह गया। कोई जानता नहीं क्यों पगड़ी बांध रहे हैं। क्यों कपड़ा सर पर रख रहे हैं। बस अब लकीर के फकीर बन गए। अब अपना एक अलग पहचान बना लिए। इसे प्रतिष्ठा से जोड़ लिया। यह मात्र साधक के लिए है। साधना के लिए है। इसे प्रतिष्ठा एवं पहचान से कोई वास्ता है नहीं। इसे परंपरा में डालते ही कुरूप हो जाता है।

बहुत संन्यासी, जो जंगलों में रहते थे, उन्हें कपड़ा उपलब्ध नहीं होता था। अतएव वे अपने सर के बाल छोड़ देते थे। बाल लंबा हो जाता था जिसे वे पगड़ी की तरह ऊपर बांध लेते थे। अब सर सुरक्षित हो जाता है। अब कोई जरूरत नहीं है पगड़ी की। जैसे आप फोटो में देखते हैं शंकर को, बुद्ध को। भगवान शंकर को देखते हैं। वे बैठे मृगछाला या व्याघ्र चर्म पर। वह भी विद्युत


प्रणव

के अत्यंत कुचालक है। पर्वत एवं जंगल में उन्हें सहज ही सुलभ हो जाता था। यह सब प्रयोग सहज एवं सुलभता पर किया गया। अब व्याघ्र की छाल या मृगछाल अत्यंत दुष्कर एवं महंगी हो गई। कंबल, लकड़ी, कपड़ा सहज सुलभ है। अतएव साधक टोपी या पगड़ी का प्रयोग कम से कम साधना के समय अवश्य करें। इससे बंधे नहीं। इसे अपनी प्रतिष्ठा नहीं समझें। मात्र साधक साधना के लिए ही समझें तो बेहतर होगा।

उपरोक्त जो भी विधियां या अनुभव बताया गया है, उससे साधक फायदा ले सकता है। साधक जब इन द्वारों से निकल कर बाहर आ सकता है। उसी संबंध में सद्गुरु कबीर भी कहते हैं–

ये मरजीवा अमृत पीवा, का धसि मरसि पतार।
गुरु की दाया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार।।

इस तरह साधक अमृत पान कर, गुरु की दया एवं साधु संत के सत्संग के द्वारा निरंकार प्रभु को प्राप्त कर सकता है। चूंकि वहां और कोई दूजा भी नहीं है।

''हरि हर ब्रह्मा नहीं शिव शक्ति, ना बाहों तीरथ अचारा।
माय बाप गुरु जा के नाहि, सो धौ दूजा की अकेला।।''

इसी तथ्य को कृष्ण ने गीता में कहा है–

''परमं अचरं ब्रह्मा, स्वभायोऽध्यात्मुच्यते।
भूतभावोद्भवकारो विसर्गः कर्म संज्ञीतः।।''

इसे विरला ही जान पाता है। चूंकि साधक बाह्य पूजा पद्धति से ऊपर उठ ही नहीं पाता। यदि गुरु की कृपा साधक का सतत प्रयास रहा तो वह उपलब्ध हो ही जाता है। उस एक को।

एको देवो सर्व भूतेषु गुढः सर्वव्यापि सर्वभूतान्तरात्मा,
साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च।।

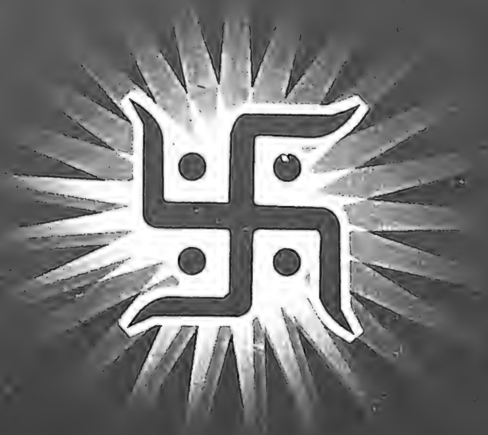
प्रणव—कहो तो को पतियाय

श्वास वायु तत्व है। यह स्पर्श का विषय है। यह नाक की राह जाती है। नाक का काम सूंघना है यानी यह गंध संवेदना है। पर प्राण शब्द-संवदेना है। यह आकाश तत्व से बनता है। प्राण की तासीर का ज्ञान वैद्य नाड़ी पकड़कर या आला लगाकर करता है। आकाश शब्द और प्राण एक तरह से पर्यायवाची शब्द हैं। प्राण की परख गति से, हृदय के कंपन से होती है। यानी प्राण का अनुभव सुनकर किया जाता है—नाक से सूंघ कर नहीं। अतः प्राण कान का विषय हो गया। प्राण श्रवण-संवेदना हो गया। इसका संबंध ध्वनि से होता है। प्राणायाम नादानुसंधान है। इसे ही शब्द-साधना या सुरति-शब्द-योग कहते हैं। पंडितों ने प्राणायाम की जगह झुनझुना थमा दिया है।

प्रणव यौगिक शब्द है जो प्राण + रव से बना है। यह प्राण का कंपन या स्पंदन है। प्राण ही गाता है। कंठ तो बोलता है, कंठ गाता नहीं है। नाद में कंठ की मदद नहीं ली जाती है—इसे नाभि का व्यापार माना जाता है। स्वर का निनाद पांचों प्राणों के केंद्रों, यानी चक्रों से किया जाता है। प्रणव ध्वनि तरंग है। संतों ने शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया है—उनका शब्द गाय-बैल-घोड़ा नहीं है। उनका शब्द नाम है—ॐकार है। ध्वनि के विवाट से स्वर और स्वर के प्रयोग से प्रणव बनता है। प्राणायामी अपने को स्वर के अनुगूंज से जोड़ता है। सभी मंत्र ध्वनि तरंगें हैं—मंत्र वर्ण नहीं, बल्कि स्फोट हैं। तरंगें कैसे उठाएं, उनका कैसे नियमन करें कि अपान वायु जो प्राण को नीचे खींचता है—ऊपर उठने लगे और पिंड शरीर के कमल चक्र जो अधोन्मुखी हैं, वे ऊर्ध्वमुखी हो जाएं—यही उलटा जाप है, यही प्राणायाम है। प्राण अपान आदि कंजों को ऊर्ध्वोमुखी बनाकर सहस्त्र दल पर प्राण की प्रतिष्ठा करने का प्रयास है प्राणायाम। यह चेतना की अंतर्मुखी यात्रा है। प्राणरूप ईश्वर का, अपने हृदय में दर्शन की, सर्वोत्कृष्ट योग विधि ही प्राणायाम है।

प्रणव





प्राण में मंत्र डालना नहीं पड़ता है। प्राण मे मंत्र स्वतः फूटते हैं। दुख है कि प्रायः लोक श्वास क्रिया को ही प्राणायाम समझते हैं। शास्त्रों के टीकाकारों और भाष्यकारों ने ऐसी भूलें करवाई हैं। जबकि श्वास-नियंत्रण नाड़ी-शोधन है। यह प्राणायाम की पीठिका है। हजारों वर्षो से एक ही झूठ को दुहराया जा रहा है कि नाड़ी-शोधन ही प्राणायाम है। जो योगी है, जानकार हैं, वे मौन रहे, पर जिसने योग नहीं किया, केवल ग्रंथ पढ़े—उन्होंने कुछ का कुछ कह दिया, जबकि पंडितों को प्राणायाम के बारे में बोलने का अधिकार नहीं था, क्योंकि योग का चौथा सोपान है प्राणायाम—इस पर योगी का ही वक्तव्य सत्य हो सकता था। पुस्तकीय ज्ञानियों ने बड़ा घोर माठा किया। मानवता का बड़ा नुकसान किया कि भारत की अध्यात्म विद्या आम न हो सकी। नाद ब्रह्म की उपासना विपथगामी हो गई।

प्राणायाम से हमारे आंतरिक शरीर में संतुलन आता है। श्वास से रक्त शुद्ध होता है। रक्त से प्राण बनता है। ध्यान के दो रूप हैं—1. श्वास क्रिया यानी नाड़ी-शोधन और 2. प्राण क्रिया यानी प्राणायाम। वैसे श्वास क्रिया नहीं है, बल्कि स्वभाव है। जबकि प्राणायाम क्रिया है। हम चाहें या न चाहें श्वास चलेगी पर वह हमारे वश में नहीं है, हम श्वास के वश में हैं। पर प्राणायाम हमारे वश में है, हम चाहें तो करें, चाहें तो न करें। अतः प्राणायाम कर्म है। आप तो प्राणायाम नहीं करते हैं, पर प्राण तो शरीर में रहता है। प्राण को आप न तो देख सकते हैं, न स्पर्श कर सकते हैं। पर श्वास को आप महसूस करते हैं, ढोते भी हैं। तेज चल रही है या मध्यम, देखते हैं। पर प्राण की तस्दीक आप सुनकर करते हैं। श्वास द्वारा सूंघने से प्राण का पता नहीं चलेगा। नाड़ी की गति सुननी पड़ती है। ध्वनि तरंगों में प्राण का पता होता है। ये तरंगें ही मंत्र हैं। इसे संत गमगति, गायक सरगम और योगी प्राणायाम कहते हैं।

श्वास क्रिया से भाषा का संबंध है। प्राण क्रिया से प्रणव का संबंध है। भाषा के प्रयोग में मन दौड़ लगाता है। स्वर के प्रयोग में मन लंगड़ा हो जाता है। भाषा को आप छोटी-बड़ी नहीं कर सकते, स्वर द्रुत और विलंबित होता हैं, मन अंतर्मुख होता है, तभी स्वराधान संभव है। स्वर मन को कैद कर लेता है, चित्त को निरुद्ध कर देता है। जैसे शर-संधान में मन नहीं बचता है, वैसे ही स्वर-संधान में भी एकाग्रता होती है। यहां मन स्वतः स्थिर हो जाता है, मुग्ध हो जाता है।

श्वास क्रिया करने वाले का मन भगेड़ू होता है। श्वास क्रिया जीभ से

नीचे नहीं जाती और प्राण क्रिया में जीभ लगती ही नहीं है। इसीलिए नाड़ी-शोधक का मन उठाऊ-चलाऊ होता है। इनका मन परेशान तो होता है, पर प्राणायामी का मन आज्ञाकारी होता है। प्राणायाम प्राण का निरति-योग है, जिसकी निरति की उन्नचास भंगिमाएं हैं, जो उन्नचास पवन कही जाती हैं। जिन्होंने श्वास क्रिया को ही प्राणायाम मान लिया है, वे शरीर से निरोग हो गए हैं, पर जीवन में कभी प्राणायामी नहीं होंगे। प्राणायामी मन के फेर में नहीं रहता है। प्राण मन का राजा भी है, जनक भी है। जिसमें प्राण नहीं होगा, उसमें मन भी नहीं होगा। मन मर जाता है कोमा में, मूर्च्छा में, बेहोशी में, नींद में, तो भी प्राण तो रहता है तन में। श्वास रहती है तो भी मन भाग जाता है, कोमा में श्वास चलती है, मन भागा रहता है। प्राण है इसीलिए श्वास चलती है—प्राणायाम नहीं है तभी मन भागा हुआ है। मन को बैठारू बनाने के लिए प्राणायाम है। जो मन श्वास के आगे सरहंग है, वही प्राण के आगे गुलाम हो जाता है। प्राण मन से बरियारा है। प्रणव का उद्घोष करते ही मन के हाथ-पांव ठिठुर जाते हैं। प्राण ही मन को सुरति पर सवार कराता है। सुरति मन की लगाम है।

प्राणायाम की क्रिया बड़ी शक्तिशाली क्रिया है। इसे गुरु के साथ ही किया जाता है। प्राणायाम अकेले संभव नहीं है। श्वास क्रिया में चित्त नियंत्रित होता है, पर प्राणायाम में चित्त का निरोध हो जाता है। प्राणायामी को चित्रकारी देखने की फुरसत ही नहीं होती। मन की चित्रकारी पर प्रणव पानी फेर देता है—डूब गए सारे चित्र। स्वर लगाकर देख लें—हाथ कंगन को आरसी क्या। तो श्वास और प्राण दो चीजें हैं और पूरक-रेचक-कुंभक प्राणायाम नहीं है। ये क्रिया तो आप के जन्म के पहले से चल रही है, आप बेकार परेशान हो रहे हैं। आप नहीं भी करेंगे तो आप में होगा ही। हां, जीव यह तीनों सहज क्रियाएं दोहरा रहा है, जन्म से ही। उसे करना क्या है ? पर हम उसी के फेर में हजारों वर्षों से पड़े हैं। यह शास्त्रों की बातें दोहराई जा रही हैं, पर बालू से तेल निकलता नहीं है। जिन्होंने नाड़ी-शोधन को प्राणायाम कहा, उन्हीं लोगों ने प्राणायाम को बीहड़, कठिन, दुःसाध्य, विकट कहा। यह भी कहा कि प्राणायाम खो गया है। प्राणायाम के जानकार नहीं रहे—ये खुद प्राणायामी नहीं थे तो दुकानदारों की भाषा बोल दी, दुकानदार की दुकान में जो माल नहीं रहता है, कह देता है कि यह तो आउट ऑफ मार्केट है। पंडितों ने फंसा दिया प्राणायाम की जगह, नाड़ी-शोधन में। लगे रहो, पूरक-रेचक में लोगो। शब्द ब्रह्म की उपासना छूट गई, विधि गलत हो गई।

इसमें क्रिया करनी ही नहीं थी। एक मूर्ख भी पूरक-रेचक करता ही है। पंडितों ने मूर्ख बनाया–सोचा, कैसे कह दें कि हम प्राणायाम नहीं जानते ? श्वास तो सबकी चलती ही है–कह दें कि करते रहो, पूरक रेचक तो अंतर क्या पड़ता है–कोई घाटा तो नहीं है–भले फायदा नहीं है तो दिया होमियोपैथी डोज–फायदा नहीं करेगा तो नुकसान भी नहीं करेगा। विचित्रताओं का देश है–भारत। लाखों प्रातः नाक दबाने का खेल खेलते आपको मिलेंगे–बेचैन लोग। प्राण संयम प्राणायाम है। चेतना को शब्द से हटाकर, स्वर पर लगा देना प्रणव साधन है। मंत्रों का उच्चार ध्वन्यात्मक होता है, वर्णिक नहीं। मंत्र की पहचान ही है रव यानी ध्वनि तरंग और श्वास न तो प्राण होता है न रव होता है। रव प्राण का बुदबुदा है। आप कितना ही श्वास चलाते रहें, प्राण का नवनीत नहीं निकलेगा, क्योंकि प्राण नाक में नहीं, हृदय में होता है। पांचों प्राण अंतः केंद्रों पर होते हैं तो नाक से आप प्राणायाम कैसे कर लोगे ? रेचक को, आप यह तो नहीं कहेंगे कि प्राण निकल रहा है ? न तो पूरक प्राण है, न रेचक प्राण है–तो इनको फेरना प्राणायाम कैसे होगा ? ये प्राण के ईंधन हैं। प्राणायाम के रहस्य को संतों ने गमगति में छिपाकर रखा, जो गमगति जानता है वही, बस वही प्राणायामी होता है। नाक रगड़ने से प्राणायाम का कोई लेना-देना नहीं है।

ज्ञानवाही नाड़ियों के सूक्ष्म केंद्रों पर प्राण का निवास होता है। प्राण भारहीन प्रकाश का नाम है। इसमें गमक और चमक की दो क्रियाएं होती हैं। गर्भ में शिशु की बढ़त गोपनीय होती है, वैसे ही प्राणायाम भी गोपनीय है। सुरति-निरति शब्द योग परम गोपनीय है। प्राणायामी का प्राणायाम करना, आपको पता तभी चलेगा जब आप भी प्राणायामी हों। बिना गुरु कृपा के यह मिलता नहीं है, वह भी वर्षों के परिश्रम से ही मिलता है। आप ऐसे योगी की चरण-शरण लें जो उन्नचासों पवनों का नियमन, नियंत्रण का अधिकारी हो। विद्वान के पास मत जाना। पंडित तो आपको नाकों चना चबवा कर छोड़ेगा और आप की नाक छिल जाएगी।

प्रणव वाद्य

अनुभव को शब्दों में बांधना लाचारी है। अनुभव का व्याकरण नहीं होता। व्याकरण समझाने में मनमानी भी करते हैं। अध्यात्म में एक अनमोल संकेत है–"ॐ"। यह ब्रह्म की वाचक धुन है, इसे उद्‌गीय कहा गया है।

यजुर्वेद में "ॐ खंब्रह्म" कहा गया है। व्याख्याकारों और भाष्यकारों ने इसकी क्या दुर्दशा की है। यही आप देख लें। "ॐ खंब्रह्म" मं. १७ सू. ४० का छांदोग्योपनिषद् ने कहा—

ओमित्येतदाक्षरम उदगीयम् उपासीत—१-१। शंकराचार्य ने इसका भाष्य किया—"ओमित्यतदेक्षरं परमात्मने अभिधोनं नदीष्टम "ॐ" यह परमात्मा का सबसे समीपवर्ती नाम है। इसका उच्चारण करने से वह प्रसन्न होता है।" उन्होंने सोचा भी नहीं कि उद्गीय का उच्चारण नहीं होता है। अगर वह नाम होगा तो उसका अर्थ भी होगा। वह कोई पदार्थ भी होगा। जबकि ॐ का उच्चारण नहीं है। उसका अर्थ भी नहीं है। वह सुना जाता है। वह वागेंद्रियों का विषय नहीं है। तुलसी ने स्पष्ट कहा—

"निरंकार ओंकार मूलं तुरीयं, गिराज्ञानगोतीत नीशं गिरीशं"

वही शंकराचार्य जब गीता की व्याख्या करते हैं तो और ही बात करते हैं। गीता का "गिरामऽस्मिकमक्षरम"—१०-२५। "गिरां वाचो पदलक्षणानाम एकम अक्षरं ओंकारः अस्मित" वाणी संबंधी भेदों में यानी पदात्मक वाक्यों में मैं एक अक्षर ओंकार हूं।" यहां एकाक्षर का अर्थ लगाया आपने ओंकार। तो उद्गीय से ॐ को अक्षर बनाया—यह पहली भूल की।

वही फिर अक्षराणामकारोऽस्मि—गीता-१०-३३ का अर्थ किया—"अक्षराणाम वर्णानाम अकारो वर्णः अस्मि" अक्षरों अर्थात् वर्णों में मैं अकार यानी "अ" हूं। यहां ॐ को अक्षर से वर्ण कहा और वर्णों में "अ" कहा—ॐ गायब हो गया। उसके तीन रूप हुए—अक्षर, वर्ण और "अ"। यह पैमाकरण का घोटाला हुआ। इस पर आज तक उंगली नहीं रखी गई—क्यों ?

यहां ब्रह्म नामी ॐ को व्याकरण में बांधने की चेष्टा की गई तो अक्षर लिपि रूप में लिखावट में, वर्ण उच्चारण रूप में, वाणी में सिमट गया। एक अक्षर का अर्थ करने वाले ने अपने भाष्य में ओंकार लिखा। ॐ का रूप भी बिगाड़ा, अर्थ देकर नाम भी बिगाड़ा। देखिए, कितनी तरह के रूप बिगड़े—ओं, ओम, ओउम, अउम, अउमं। एक तरफ ॐ को एकाक्षर कहा—फिर किसी ने तीन वर्णों का मेल, तो किसी ने पांच वर्णों का पंचमेल कहा—इतनी अनार्की की गई—यह व्याकरणिक फसाद किया गया। सीधी-सी बात थी कह देते, हम नहीं जानते हैं, लेकिन उन्हें कुछ कहना था।

हम जानते हैं—वर्ण भी खोते हैं, इनके उच्चारण भी खोते हैं। संस्कृत में ॠ, ल्ट, ल्टृ—तीन वर्ण हैं, पर उनके उच्चारण नहीं हैं। हिंदी में आठ वर्ण

हैं, जिनके उच्चारण खो गए हैं—क्ष, त्र, ज्ञ, ङ, ञ, ण, रा, ष—हम इनके गलत उच्चारण के अभ्यासी हो गए हैं। आप निर्णय कर सकते हैं।

"ॐ" न तो संस्कृत, न हिंदी का—अक्षर है, न वर्ण है। संस्कृत हिंदी के ५२-५२ अक्षरों-वर्णों में ॐ नहीं है तो वैयाकरणों ने उसका रूप बिगाड़ा। ओं, ओऽम् आदि किया। उसके प्रतीक चिह्न को पहले मिटाया। उसे भाषा में नहीं उतारा जा सकता। क्योंकि वह उच्चारण और अर्थ से अतीत है—ॐ अक्षर है ही नहीं। वह धुन है जो हर जीव, जड़, जंगम, पशु, प्राणी में गूंज रही है। वैयाकरणों ने घोरमाठा करके अध्यात्म की राह पंकिल कर दी। "ॐ" योग की परम खोज है। यही "नाम" है तुलसी का, यही कबीर का "सबद" है, नानक का "सतनाम" है, यही बल्लभ का "कृष्णनाम" है, रामानुज का "रामनाम" है। ॐ व्याकरणिक विभादन नहीं है। दुनिया की कायिक, वाचिक, मानसिक उत्सरण-क्षमता का यही मूल है।

वैयाकरणों ने योगियों के मुख पर हाथ रख दिए—कह दिया, "चुप रह।" ढिंढोरा पीट दिया, अपने वैदुष्य का। और जो वाणी का विषय नहीं था, उसका कीर्तन करवा दिया। उसे अक्षर, लिपि, वर्ण, शब्द मान कर गुमराह कर दिया। बहुतों ने ॐ का अर्थ भी किया। उसका जप भी कराया। जबकि मंत्र का अर्थ नहीं होता है, उपयोग होता है—अज्ञानियों ने 'ॐ' को मंत्र भी नहीं माना—कह दिया कि ॐ तो पुरश्चरण है। योगी इस घपले को देखते रह गए, उन्होंने अपने लिए उस मार्मिक संकेत को अपना अलग ही नाम दे दिया। पटाखे की धुन का आप क्या अर्थ करेंगे—बादलों के गर्जन-तर्जन का आप क्या उच्चारण करेंगे ? सागर की लहरों का आप क्या भाषा वर्ण गढ़ेंगे ? पवन के सननन को क्या अक्षर करेंगे—अग्नि के स्वप्न की क्या व्याख्या करेंगे—सांगीती तंत्र वाद्यों के आप कौन वर्ण बनाएंगे ?

गुरुवा पंडितों ने जो साध्य था, उस ॐ को साधन बना दिया। ओं, ओऽम् रटवाने लगे। वेदों ने "ॐ" की उपासना का संकेत दिया था। अंतर्यात्रा करके उस शाश्वत शब्द के पास पहुंच जाना था। भीतर की मुरली धुन सुन लेनी थी—

"नौबत धुरत है रैन दिन सुनन में।" कबीर, "सबद सुनत अनुराग होत है।" कबीर, "बिना नगाड़े नौबत बाजै, अनहद सबद झरै।" कबीर। ये ॐ के संकेत थे; पर पंडितों ने घपला कर दिया। योग को व्याकरण के मुसहुल में डाल दिया और ओऽम् के साथ द्वाक्षर, पंचमाक्षर, षडाक्षर, द्वादशाक्षर, चतुर्थदी-शाक्षर जोड़ दिया—लोग आवृत्ति मारने लगे—ऐसा धोखा किया गया।

ॐ पराध्वनि है। इसे सुना जाता है। वह भी कान से नहीं, सुरति से सुना जाता है। कान तो बाहर की धुन सुनता है। योगी अंतर की धुन सुनता है। अंतर्ध्यान परमात्मा की उपस्थिति का प्रमाण है। आप शरीर में कहीं भी छूकर देखें–ध्वनि हो रही है। जन्म के पहले से हो रही है। पिता, प्रपिता, पितामहों से उतरती हम तक आई है, वह परमात्मा का ज्योतिर्पथ है, नादमार्ग है। वही एक ध्वनि अखिल विश्व के चराचर प्राणियों में गूंज रही है। वह ब्रह्म की यात्रा है। योगी उसी की आत्मानुभूति करता है। कबीर ने 'ॐ' को "आदि शब्द, युगादि शब्द" कहा। उसे ही फनकार अपनी वीणा में उतारता है। उसे ही भक्त आरती की नौबत में उतारता है। योगी उसे ही अपनी शून्य समाधि में उतारता है। उसी की विधि है भृंगी साधना। योगी उसे भ्रामरी प्राणायाम कहता है। इसे संत सद्गुरु से सीखना पड़ता है–"पीया की ऊंची रे अटरिया मैं तो देखन चली।"

ॐ ही परमपद है। इसे ही अलख, अगम, अनामी कहा गया है। वह ॐ शरीर में कण या परमाणु रूप में और ब्रह्मांड में हिरण्यगर्भ रूप में है। गीता में व्यास ने ललकार कर कहा है कि तपस्वी से योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानी से भी योगी श्रेष्ठ है, याज्ञिकों से भी योगी श्रेष्ठ है–हे अर्जुन ! इसलिए तू भी योगी हो जा।

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानीभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चधिको योगी, तस्मताद्योगी भवार्जुन॥ ६/४६ गीता

पंडितों ने यह दौलत घास-भूसे के भाव में बेच दी, पर संतों ने उसे आज तक ज्यों-की-त्यों बचाकर रखा है। वह दौलत ही ऐसी है कि प्रलय के बाद भी वही बची रहती है। संतों ने उसे "सुरति शब्द का योग" नाम दिया है। गुरुमुख परंपरा से वे 'ॐ' तक यात्रा कर रहे हैं। अनहद से बेहद तक की अंतर्यात्रा का विहंगम पथ सबके लिए खुला है। ईश्वर कृपा से किसी को शब्दमार्गी गुरु मिल जाता है तो अपने भीतर चल रही परमात्मा की आरती में शामिल हो जाता है। इसे ही कबीर ने कहा था–"तेरा साईं तुझ में, ज्यों पुहुपन में बास।" "कस्तूरी के मिरग ज्यों ढूंढें फिरत घास।" "पंडितों ने घास परोस दिया है और लोग उसे ही चिबला रहे हैं।" सांसों की "सांस में बसे हुए साईं" से वे गाफिल हैं। ॐ ही जीवन का लक्ष्य है, इसे ही पाना आत्मोपलब्धि कहलाती है।

नोट–पंडित शब्द का प्रयोग किसी व्यक्ति या जाति का सूचक न होकर इसे शास्त्र पढ़कर, बिना अनुभव किए ही प्रवचन करने वालों के लिए कहा गया है। उनके पास बिना अनुभव की अभिव्यक्ति है। वही भटकाव है।

●

देव दर्शन

परस्पर प्राणों में प्राण-वायु के हवन से देवता प्रसन्न होते हैं। जितने मनोबली हो चुके हैं इतिहास-पुराणों में सभी अग्निहोत्री होता ही तो थे। सबने वरदान पाए। ये सभी अपानवायु के हवन-यापन वाले थे और सबने शंकर और ब्रह्मा से वरदान पाया था।

अपान में प्राण का हवन तमोगुणी अग्निहोत्र है। अपान के अराधक आवागमन में बंधे होते हैं, कई-कई जन्मों की उनकी कथाएं होती हैं। प्राण और उदान चक्रों के अग्निहोत्री रजोगुणी कहलाते हैं। इनकी आराधना मनोबली बनाती है। समान वायु में प्राण, अपान, उदान, व्यान के हवन को ही सतोगुणी अग्निहोत्र कहते हैं। नाभी चक्र की आहुति से रीढ़ में स्थित सुषुम्ना द्वारा पीछे से प्राण ब्रह्मरंध्र की राह से निकलता है—यही सतोगुणी प्राण कहा जाता है। नाभि केंद्र के देवता हैं विष्णु। गणेश किसी पर जल्दी प्रसन्न नहीं होते—होते भी हैं तो ऋद्धि-सिद्धि प्रदान कर पतित कर देते हैं। चूंकि अपान मल-मूत्र के पतन का ही दावेदार है। शंकर और ब्रह्मा के वरदायी मनोबली ही उनका विरोध करते हैं और वे ही असुर या राक्षस कहे जाते हैं। पुराणों के सभी राक्षस शिव या ब्रह्मा के शिष्य हुए हैं। विष्णु भक्तों की अपनी अलग शान है।

पांचों प्राणों के केंद्रों पर पांच देवता बैठे हवन करते हैं, यानी प्राण ऊर्जा का वितरण और खपत करते हैं। क्रमशः मूलाधार पर गणेश, स्वाधिष्ठान पर ब्रह्मा, मणिपुर पर विष्णु, अनाहत पर शिव और विशुद्ध चक्र पर दुर्गा आसीन हैं। ये क्रमशः नीचे से ऊपर के चक्रों के देवता हैं। जैसे दूध और पानी में से हंस दूध की पहचान कर उसे बाहर निकाल कर पी जाता है, या अग्नि होती जव-गेहूं से जौ को निकालकर हवन सामग्री में मिला लेता है। उसी प्रकार जो साधक श्वास से प्राण को अलग करना जान जाता है, वही प्राण से प्राणों में हवन करने का अधिकारी होता है। प्राण की पहचान प्रणव साधना से ही होती है। जिसे प्राण का वजन होता है, वही प्राण आराधन में

सक्षम होता है। श्वास से प्राण को अलग करने की ही विधि सद्गुरु देता है। अन्यथा दूध-पानी एक साथ मिलकर व्यर्थ हो जाते हैं वैसे ही श्वास और प्राण एक ही भाव में व्यर्थ हो जाते हैं। आपको पता नहीं चलता है और श्वास के साथ प्राण भी निकल जाता है।

प्राण-साधन करने वालों को देवताओं के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। ये देवता जल्दी दयालु भी हो जाते हैं। उनके नाम की हवन डालते, वे करीब आने लगते हैं और संदेह खड़े हो जाते हैं—प्रलोभन देते हैं, वरदान मांगने को कहते हैं, पर ये सभी देवता पिंड शरीर के ही पहरू हैं। इनका काम ही है कि वे साधक को ब्रह्मांड शरीर में जाने से रोकें। इनका काम साधना में विघ्न करना है और इनका विघ्न है कुछ वरदान देकर साधक को लक्ष्य से विचलित कर देना। विषय बयार के झोंके आते हैं तो ये ज्ञान-कपट खोल देते हैं ताकि वासना भीतर प्रवेश कर जाए। गणेश तो विघ्नेश हैं। सबसे बड़ी बाधा काम की है। जो मूलाधार और सृष्टि चक्र इंद्रियों में निवास करता है—क्रोध प्राण के ऊपर होता है। लोभ दुर्गा केंद्र की वासना है और मोह विष्णु की नाभि में बसा हुआ है। काम के देवता गणेश, ब्रह्मा हैं। क्रोध के देवता शिव हैं, लोभ के देवता दुर्गा हैं और मोह के देवता विष्णु हैं। इसीलिए मनोबलियों के मोह को मारने के लिए विष्णु का अवतार होता है और देवताओं में मोह मारने की क्षमता नहीं है। इसीलिए दुर्गा का उपासक लोभी होता है, शिव का उपासक क्रोधी होता है, गणेश और ब्रह्मा का उपासक कामी होता है। व्यान का उपासक अहंकारी और मत्सर होता है।

गरदन के नीचे ये देवता सर्व शक्तिमान हैं, पर गरदन के ऊपर इनका विघ्नेश रूप नहीं होता, ऊपर भी देवता मिलते हैं। विघ्न डालना उनका स्वभाव नहीं है। वे तो साधकों के संयम की परीक्षा करने बैठते हैं और जिनमें जागतिक लालसाएं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरमंद होते हैं, उन्हें उसका वरदान देकर जगत में ही लौटा देते हैं, पर जो इनकी ओर से आंखें मूंद लेते हैं उन्हें वे आगे जाने देते हैं। वे राह रोकते नहीं हैं, राह में बाधा खड़ी कर देते हैं। वह भी इम्तहान के लिए कि यह सच्चा खोजी है या संसारी है। प्रायः लोग जागतिक मान-प्रतिष्ठा के लिए ही साधना करते हैं और देखते हैं कि कितने लोग उन्हें पूजते हैं ? कितने उन्हें सम्मान देते हैं—ये साधक मान-बड़ाई से ऊपर नहीं जाते तो, वे देवता उन्हें वहीं से लौटा देते हैं।

जो साधक देवताओं की पूजा करते हैं वे देववादी भगवान के भक्त नहीं होते। निर्गुण-निराकार के उपासक देवताओं और उनके वरदानों से

अपनी आराधना नहीं छोड़ते। परमात्मा ने देवताओं को ड्यूटी दी है कि वे सांसारिक शानो-शौकत, मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा चाहने वाले को, वहीं कुछ दे लेकर वहां से लौटा दें। प्रायः लोग ऋद्धि-सिद्धि के लाभ से ही साधना करते हैं और दैव योग से उन्हें मिल भी जाती है। ऋद्धि-सिद्धि हर देवता की अनुगत है। अब ये शक्तियां पाने वाले दुनिया में यश, मान, प्रतिष्ठा, पैसा कमाने लगते हैं, दुआ करने लगते हैं और एक दिन उनका पुण्य क्षीण हो जाता है। कोई भी सिद्ध आपने ऐसा नहीं पाया होगा, जिसको छोड़कर उनकी सिद्धियां भाग न गई हों। इसी कारण सच्चे साधक परमात्मा से कम पर राजी नहीं होते हैं, देवता लोग बुलाते रह जाते हैं, लुभाते रह जाते हैं, ललचाते रह जाते हैं, पर सच्चा साधक सद्गुरु की याद में आंखें मूंदे, आगे बढ़ता जाता है—ऋद्धि-सिद्धि को माया मानकर छोड़ते-बढ़ते जाता है। पर दूसरे चमत्कारों के चक्कर में पड़ कर बरबाद हो जाता है।

जैसा कि मैं पूर्व में ही वर्णन कर चुका हूं कि मूलाधार चक्र पर ही ऋद्धि-सिद्धि गणेश के साथ निवास करती है। जो साधक को प्रारंभ में ही ऋद्धि-सिद्धि से भर देती है। परंतु यह भी जानना चाहिए कि मूलाधार चक्र ही पेशाब-पखाना का केंद्र है। अर्थात वे मल बाहर निकालते हैं, त्याज्य है। इसी तरह ऋद्धि-सिद्धि भी त्याज्य है। तांत्रिक-मांत्रिक का आराध्य ही यही है। जो पतनोन्मुख होते हैं। कुण्डलिनी साधक पर गुरु कृपा की अति आवश्यकता है। अन्यथा वह यहीं ऋद्धि-सिद्धि के दलदल में फंस कर रह जाएगा।

हरक्यूलिस साधना के क्षेत्र में अपने भविष्य की दिशा तय करने में असमर्थ था। प्रत्येक साधक तत्कालिक फायदे के चक्कर में अपना जीवन बरबाद कर देते हैं। मेरे यहां अधिकांश युवक अप्सरा सिद्धि, कर्ण पिशाचिनी सिद्धि, प्रेत सिद्धि, स्वर्ण सिद्धि, मोहनी-वशीकरण सिद्धि के चक्कर में आते हैं। उसे सिद्ध करने पर जोर देते हैं। यही कारण है कि तांत्रिक इनका शोषण करता है या ये उनके जाल में स्वयं फंसते हैं। वह ऐसे चौराहे पर खड़ा था जहां से अनेक रास्ते दिखाई पड़ रहे थे। वह कभी सोचता है ऋद्धि-सिद्धि, आकर्षण, वशीकरण या भोग-विलास की तरफ जाए। जीवन की खुशी मनाए। दूसरी तरफ उसके गुरु की आवाज कानों में गूंज उठती, "भोग-विलास का मार्ग कष्टपूर्ण है। उत्तम मार्ग का अनुसरण करो।" वह इस ऊहापोह में उलझा हुआ था। वह रात्रि भर सो नहीं सका।

रात्रि का घोर अंधेरा था। वह दूर-दूर देखने की कोशिश करता, लेकिन

असमर्थ था। अंधेरे में एक प्रकाश पुंज दिखाई दिया। जो उसी की तरफ बढ़ रहा था। हरक्यूलिस के नजदीक आकर वह प्रकाश पुंज अति सुंदर देवी रूप में परिणत हो गया। उसका शरीर पैर से सिर तक आभूषणों से लदा था। वह मोहिनी मुस्कान लिए आगे बढ़ी, बोली—हरक्यूलिस ! तू किस सोच में अपना समय बरबाद कर रहा है ? मेरे मार्ग पर आकर देखो। मैं तुम्हें ऐसी दुनिया में ले चलूंगी, जहां तुम्हें कभी कोई अभाव नहीं खलेगा। एक सुंदर जीवन, ऐश आराम पूर्ण जीवन तुम्हारा इंतजार कर रहा है। सभी भोग तत्क्षण तुम्हें मिलेंगे। संसार के ऐशों से पूर्ण जीवन व्यतीत करो। मेरा हाथ पकड़ो। मेरे साथ चलो। सुखी जीवन प्रारंभ करो।

हरक्यूलिस ने पूछा—"देवी जी ! आपका क्या नाम है ? उस देवी ने अभिमान से कहा—"भोग की इच्छा रखने वाले लोग मुझे (ऋद्धि-सिद्धि) सुख की देवी के नाम से पुकारते हैं। वहीं कुछ मूर्ख, नीरस, फक्कड़ फकीरों ने अपने वैराग्य का दिखावा करते हुए मुझे विलास की देवी भी कहा है। परंतु यह सत्य है कि तुम्हारे यौवन पूर्ण जीवन में मैं ही खुशी भर सकती हूं।" हरक्यूलिस मानव स्वभाव कमजोरी से दूर नहीं था। वह उसकी तरफ हाथ बढ़ाना ही चाहता था कि गुरु अनुकंपा सामने प्रगट हो गई।

दूर से एक प्रकाश पुंज उसकी तरफ आया। वह भी उसके नजदीक आकर आदर्श सौंदर्यपूर्ण देवी में बदल गया। हरक्यूलिस की नजरें सहज ही उसके ओजस्वी चेहरे पर टिक गईं। श्वेतांबरी देवी के दिव्य तेज में पुरुषार्थ की चमक और सत्य की गरिमा झलक रही थी। देवी ने ममतामयी मुस्कान के साथ कहा—"पुत्र ! मैं जानती हूं कि यह तुम्हारे जीवन का निर्णायक क्षण है। तुम जीवन के ऐसे मोड़ पर खड़े हो जहां तुम्हें फैसला करना होगा कि क्या चुनना है और क्या त्यागना है ? परंतु बेटा, फैसला करने से पहले तुम्हारे लिए जीवन के दूसरे पहलू को भी जानना बहुत जरूरी है। मैं जीवन के दूसरे पक्ष पर प्रकाश डालने आई हूं। मेरा मार्ग सुख-दुख दोनों के ऊपर है। वह है, आनंद। निःसंदेह धन, ऐश्वर्य, प्रसिद्धि आदि सांसारिक उपलब्धियों में तत्काल सुख साफ दिखाई देता है। पर तुम ही सोचो कि क्या भोग-विलासिता का मार्ग तुम्हें सच्चा सुख देता है ? क्या इसका परिणाम आखिरकार दुख में प्रकट नहीं होता। हरक्यूलिस भी स्वयं से कई बार यही प्रश्न कर चुका था। वह पूछा—"देवी, तुम कौन हो ?" वह सहज भाव से बोली—"मैं गुरु अनुकंपा हूं। मैं गुरु मां हूं। मैं गुरु अनुग्रह हूं। विषयी भोगी मुझे संसारिक आकर्षण से विमुख करने वाली भी कहते हैं। तुम्हारे सामने यूनान के

बादशाह सिकंदर का ज्वलंत उदाहरण है। उसने पूरी उम्र धन-दौलत बटोरी। असंख्य राज्यों को लूटा, पर अंत में क्या हुआ ? मन पर भार लिए खाली हाथ, कंगालों की भांति ही उसे संसार से विदा होना पड़ा। पुत्र ! जो इस गूढ़ सत्य को जान लेता है कि क्षणिक भोग की परिणति अंततः दुख में होती है, वह तो सद्गुरु का ही अनुसरण करता है।"

हरक्यूलिस ने प्रातः ही गुरु के चरणों में अपना सिर रख दिया। वह इतिहास पुरुष बन गया। चुनौती पूर्ण समस्या के लिए अंग्रेजी के यह शब्द "हरक्यूलियस टास्क" बन गया। इस उत्पत्ति के पीछे हरक्यूलिस है।

सच्चा साधक इनके फेर में नहीं पड़ता। समर्थ गुरु उनको सिद्धियों का पता भी नहीं चलने देता और पता उनको तब चलता है, जब सिद्धियों के प्रयोग की इच्छा की क्षमता को खो देते हैं। ऋद्धि-सिद्धि को वमन समझकर वे त्याग ही देते हैं। तुलसी ने लिखा है मानस में, भरत प्रसंग में—

"रमा-निवास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी।"

आप साधना में देवताओं के दर्शन पाते उन्मत्त न होंगे, इतनी प्रार्थना है। अन्यथा वे देवता आप की संचित साधना को हजम कर जाएंगे। उनसे आपका प्रत्यक्ष भी होगा, बातें भी होंगी। वह सपना नहीं, वाकया होगा, पर देव-दर्शन की घड़ियां आएं तो आपको सावधान हो जाना है। हर मंत्र का अलग देवता होता है। आह्वान पर वह कुछ दिनों की साधना पर प्रत्यक्ष दर्शन देता है। कितने इसे ही उपलब्धि मानकर वहीं से लौट आते हैं। नीचे के चक्रों की बातें क्या ? भगवान बुद्ध त्रिकुटी से लौटे हैं, भगवान राम और भगवान कृष्ण सहस्रार से लौटे हैं। सच्च खंड तक केवल सच्चे सद्गुरु संत ही पहुंचते हैं। जैसे—कबीर, नानक। ब्रह्मांड शरीर में संतलोक शीर्ष पर है और शिखरों पर हमारे देवता भी होते हैं—पिंड शरीर में जो देवता वरदान की बाधा बनते हैं, वे ब्रह्मांड शरीर में मदद करते हैं। क्योंकि त्रिकुट पार गगन मंडल में सभी देवता कैद हैं—वे भक्तों को कष्ट नहीं दे सकते। देवताओं के दर्शन कर, अस्वस्थ मत हो जाना कि देवता प्रसन्न हो गए, अब क्या करना है। देवताओं की प्रसन्नता ही अभिशाप है।

●

संत ज्ञानेश्वर की दृष्टि में कुण्डलिनी

संत ज्ञानेश्वर जी गीता का भाष्य लिखते समय योगी संन्यासी की एकरूपता बताते हुए कुण्डलिनी पर अपना मंतव्य निम्न प्रकार दिए हैं–

तत्वनिर्णयरूपी गीता का यह छठा अध्याय है। जैसे क्षीर समुद्र में अमृत हाथ लगा है, वैसे ही जो सब गीतार्थ का सार है, जो विवेकरूपी समुद्र का परतीर है, अथवा जो योगरूपी संपत्ति का घर है, जो मूल प्रकृति का विश्रांति स्थान है, जहां वेदों का मौन हो जाता है, जहां से गीतारूपी बल्ली का अंकुर फूटता है, उस छठे अध्याय का वर्णन मैं अलंकारिक भाषा में करूंगा। इसे ध्यान देकर सुनिए–

यदि दैवयोग से पारस हाथ लग जाए तो कीमिया बनाने वाले को भी न जुरनेहारा स्वर्ण लोहे से ही प्राप्त हो सकता है, उसी तरह यदि सद्गुरु की कृपा हो तो प्रयत्न करने से क्या प्राप्त नहीं होता ? एवं ज्ञानदेव कहते हैं कि वह कृपा मुझ पर अपार है, इसलिए मैं निरूपण करता हूं। मैं शब्दों से अरूप ब्रह्म का रूप प्रकट करूंगा और वह इंद्रियों के परे है सही तथापि इंद्रियों से उसका भोग करा दूंगा। सुनिए, तदनंतर यश, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूपी छः श्रेष्ठ गुण जिसमें बसते हैं और इसलिए जो भगवान कहाता है, वह निःसङ्गों का संगाती पार्थ से बोला कि अब मेरी ओर चित्त दो।

श्री भगवानुवाच–

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥1॥

सुनो, संसार में योगी और संन्यासी एक ही हैं। उन्हें अलग-अलग मत मानो। साधारणतः विचार करने से वे दोनों एक ही जान पड़ते हैं। दूसरा नाम केवल आरोप है, उसे छोड़ दो तो जो योग है वही संन्यास है। ब्रह्मदृष्टि से देखते दोनों में कुछ अंतर नहीं दिखाई देता। एक ही मनुष्य को जैसे अलग-अलग नामों से पुकारते हैं अथवा जैसे एक ही जगह जाने के लिए अलग-अलग मार्ग रहते हैं, अथवा जैसे पानी स्वभावतः एक है, परंतु

अलग-अलग घड़ों में भरा हुआ रहता है वैसी ही भिन्नता योग और संन्यास की जानो। हे अर्जुन ! संसार में सबकी यही सम्मति है कि योगी उसी को समझना चाहिए जो कर्म करके फल में अनुरक्त नहीं रहता। जैसे पृथ्वी सहज ही अहंबुद्धि के बिना वृक्ष इत्यादि उत्पन्न करती है, परंतु उनके बीजों की अपेक्षा नहीं करती, वैसे ही सर्वत्र जो आत्मा व्याप्त है उसके आधार से तथा जाति के अनुरूप जिस अवसर पर जो कर्म प्राप्त हो वही उचित जान जो करता है, परंतु शरीर में अहंबुद्धि नहीं रखता, एवं जिसकी बुद्धि कर्म करके फल की आशा तक नहीं पहुंचती, वही संन्यासी है। हे पार्थ ! सुनो, वास्तव में वही योगीश्वर है। अन्यथा जो नैमित्तिक उचित कर्म को बद्धक समझ कर छोड़ देता है और तत्काल दूसरा कर्म करने में प्रवृत्त होता है वह, जैसे एक लेप पोंछकर तुरंत ही दूसरा लगाया जाए, ऐसे आग्रह के अधीन हो वृथा विवंचना में पड़ता है। पहले से जो स्वभावतः गृहस्थाश्रम का बोझा सिर पर है वही बोझा वह संन्यास लेकर अधिक बढ़ाता है। अतएव श्रोत, स्मार्त, होम इत्यादि न छोड़ते कर्म की मर्यादा का उल्लंघन न हो तो निज में ही सहज योगसुख प्राप्त होता है।

यं संन्यास समिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यसंकल्पो योगी भवति कश्यन॥2॥

सुनो, "जो संन्यासी है वही योगी है", इस एक वाक्यता की पताका संसार में अनेक शास्त्रों ने फहराई है। उन्होंने अपनी अनुभवरूपी तुला से यह सत्य ठहराया है कि जहां त्याग किए हुए संकल्प का लोप होता है वहीं योग-साररूपी ब्रह्म की भेंट होती है।

आरुरुक्षोर्मुनिर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥3॥

अब हे पार्थ ! यदि योगरूपी पर्वत के शिखर पर पहुंचना हो तो यह कर्म मार्गरूपी जीना मत छोड़ो। इस मार्ग के द्वारा यम-नियमरूपी आधारभूमि पर से आसनरूपी पगडंडी पकड़कर प्राणायाम की कगार से ऊपर चढ़ो। फिर प्रत्याहाररूपी मध्य भाग है, जहां बुद्धि के पैर फिसलते हैं और जिसका आक्रमण करते समय हठयोगी भी गिरने के डर से अपनी प्रतिज्ञाओं का परित्याग कर देते हैं, तथापि अभ्यास के बल से उस प्रत्याहार के निरालंब आकाश में भी धीरे-धीरे वैराग्य का आश्रय प्राप्त हो जाएगा। इस प्रकार वायुरूप घोड़े पर सवार हो धारणा के मार्ग से चलते रहो तब तक कि ध्यान की सीमा के पार न निकल जाओ। तब फिर इस मार्ग से चलना बंद हो

जाएगा। प्रवृत्ति की इच्छा भी बंद हो जाएगी। ब्रह्मानंद की एकता प्राप्त होने से साध्य और साधन एक में मिल जाएंगे। आगे चलना बंद हो जावेगा और पिछला स्मरण भी रुक जाएगा। ऐसी समान भूमिका पर समाधि लग जाएगी। इस उपाय से योगारूढ़ हो जो अत्यंत प्रबुद्ध हो जाता है उसके लक्षणों का हम निर्णय करते हैं, सुनो—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥4॥

जिसकी इंद्रियों के घर विषयों का आवागमन नहीं है, जो आत्मज्ञान की कोठरी में सोता है, सुख-दुखरूपी शरीर से संघटित होते भी जिसका मन जाग्रत नहीं होता, जो पास आए हुए विषयों का स्मरण भी नहीं करता, इंद्रियगण कर्म में प्रवृत्त हो तथापि जो फल के हेतु अंतःकरण में कभी इच्छा नहीं करता, इतना बड़ा देह धारण करते हुए जो जाग्रत में भी निद्रित दिखाई देता है, उसी को भली-भांति योगारूढ़ हुआ समझो। तब अर्जुन ने कहा, हे अनंत ! यह सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य होता है। अतएव कहिए, उस योगी को इस प्रकार की योग्यता कौन देता है ?

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥5॥

तब श्रीकृष्ण ने हंसकर कहा कि क्या तुम्हारा यह प्रश्न आश्चर्यकारक नहीं है ? इस अद्वैत में कौन किसे क्या दे सकता है ? भ्रमरूप शय्या पर दृढ़ अज्ञानरूपी निद्रा आती है तब यह जन्म मृत्युरूपी दुःस्वप्न का भोग प्राप्त होता है। अनंतर जब अकस्मात् चेत आता है तब वे सब बातें मिथ्या प्रतीत होती हैं। इस प्रकार जो सद्भाव उत्पन्न होता है वह भी निज में ही उत्पन्न होता है। हे धनंजय ! फल यह हुआ कि हम मिथ्या देहाभिमान पर चित्त देकर आप ही अपना घात करते हैं।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥6॥

विचार कर इस अहंकार का त्याग किया जाए और जो नित्य पाना है वह ब्रह्मरूप प्राप्त किया जाए तो हम आप ही अपना कल्याण सहज में कर लेंगे। नहीं तो जो इस सुशोभित शरीर को ही आत्मा समझता है वह कोसे के कीड़े के समान आप ही अपना वैरी है। लाभ के समय दुर्दैवी मनुष्य को कैसी अंधत्व की इच्छा होती है जो वह आप ही अपनी खुली हुई आंखें मूंद लेता है। अथवा जैसे कोई भ्रम के कारण समझ ले कि मैं नहीं हूं, मैं खो गया

और अंतःकरण में ऐसा मिथ्या हठ किए रहे, तो यथार्थ में वह जो है सो ही है, तथापि क्या किया जाए, उसकी बुद्धि वैसी नहीं होती। देखो, स्वप्न में लगे हुए घाव से क्या कोई सचमुच मरता है ? तोते के शरीर के भार से उसे पकड़ने के लिए रखी हुई नली उलटी फिरती है, तब वह चाहे तो उड़ जाए, परंतु उसके मन का संदेह नहीं जाता। वह वृथा गरदन ऐंठता है, छाती संकुचित कर नली को दबाता है, और उसे अपने पांव के पंजे से दृढ़ खींचे रहता है। वह समझता है कि मैं निःसंदेह बांधा गया हूं। ऐसी भावना के खड्ड में पड़ते ही वह खुले हुए पांव के पंजे को और भी अधिक फंसाता है। इस प्रकार जो निष्कारण फंसता है उसे क्या कोई दूसरा बांधता है ? परंतु चाहे उसे आधा काट डालो तो भी वह नली नहीं छोड़ता। अतएव, श्रीकृष्ण ने कहा कि वह आप ही अपना बैरी है जिसने अपना सकंल्प बढ़ा रखा है तथा जो मिथ्या वस्तु के वश नहीं होता, वही आत्मज्ञानी है।

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥7॥

अंतःकरण को जीतनेहारे तथा सकल कामना के शमन करनेहारे उससे परमात्मा कुछ जुदा और दूरस्थ वस्तु नहीं है। जैसे सोने का मैल निकल जाए तो वह खरा सोना बना ही हुआ है, वैसे ही सकंल्प का नाश होते ही जीव को ब्रह्मत्व ही प्राप्त है। जैसे घटाकाश का नाश हो तो उसे आकाश में मिल जाने के लिए किसी दूसरी जगह जाना नहीं पड़ता, वैसे ही उसका मिथ्या देहाभिमान बिलकुल नष्ट हो जाता है वह पहले से ही सब जगह भरा हुआ परमात्मरूप ही है। उसमें शीत और उष्ण के प्रवाह, सुख-दुख के विचार, मान-अपमान के शब्द, इत्यादि बातों का समावेश नहीं होता। क्योंकि जैसे जिस मार्ग से सूर्य जाता है वह विश्व प्रदेश तेजरूप हो जाता है, वैसे ही वह जो वस्तु प्राप्त करता है तद्रूप ही हो जाता है। देखो, मेघों से निकली हुई वर्षा की धाराएं जैसी समुद्र में गड़ी हुई जुदा नहीं रहतीं, वैसे ही योगीश्वर शुभाशुभ कर्म जुदा नहीं समझता।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलेष्टाश्मकाञ्चनः॥8॥

यह जो संसार-ज्ञानात्मक भाव है उसका विचार करते ही वह उसे मिथ्या जान पड़ता है; और ज्यों ही विचार करता है त्यों ही वह स्वयं ज्ञानरूप हो जाता है। फिर यह तर्क करना कि मैं व्यापक हूं कि अव्यापक, द्वैतभाव न रहने के कारण आप ही आप बंद हो जाता है। इस प्रकार जिसने इंद्रियों

को जीत लिया है उसे यद्यपि वह देवधारी हो तथापि, योग्यता में परब्रह्म के तुल्य समझना चाहिए। जितेंद्रिय वही है और योगयुक्त उसी को कहना चाहिए जो कभी ऐसा भेद नहीं करता कि यह छोटा और यह बड़ा है; जो मेरु पर्वत जैसा विशाल सोने का गोला और मिट्टी का ढेला दोनों को समान ही समझता है; और जो इतना निरिच्छ है कि ऐसे उत्तम और अमोल रत्न को, कि जिसके आगे पृथ्वी का मोल भी थोड़ा है, पत्थर के समान समझता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥9॥

फिर उसमें मित्र और शत्रु अथवा उदासीन और मित्र इत्यादि विचित्र और भिन्न भावों की कल्पना कैसे हो सकती है ? उसे कौन कहां का मित्र है और कौन द्वेषी है ? जिसे ज्ञान हो गया है कि मैं ही विश्व हूं उसकी दृष्टि में, हे किरीटी ! क्या अधमोत्तम भेद रह सकता है ? क्या पारस की कसौटी से सुवर्ण के उत्तम मध्यम भेद हो सकते हैं ? वह कसौटी जैसे शुद्ध सुवर्ण ही को उत्पन्न करती है वैसे उस योगी की बुद्धि को चराचर में निरंतर एकता ही प्रकट होती है। यद्यपि ये बिखरे हुए विश्वरूपी अलंकार अलग-अलग प्रकार के हैं तथापि वे एक ही परब्रह्मरूपी सुवर्ण के बने हैं—ऐसा जो उत्तम ज्ञान है वह सब उस पुरुष को प्राप्त हो गया है। इसलिए वह बाह्य चित्र-विचित्र रचना में नहीं फंसता। यदि पट की ओर दृष्टि दी जाए तो जैसे संपूर्ण तंतु की सृष्टि दिखाई देती है वैसे ही उसके पास एकता के सिवाय दूसरी वार्ता ही नहीं रहती। जिसे ऐसी प्रतीति प्राप्त होती है, जिसे ऐसा अनुभव होता है वही समबुद्धि है। यह बात मिथ्या मत जानो। जिसका नाम तीर्थराज के तुल्य है, जिसके दर्शन से शांति उत्पन्न होती है, जिसके संग से भ्रांत लोगों को भी ब्रह्मभाव उत्पन्न होता है, जिसके वचन धर्म का जीवन हैं, जिसकी दृष्टि से महासिद्धियां उत्पन्न होती हैं तथा स्वर्ग इत्यादि सुख जिसके खेल हैं, उसका यदि अकस्मात् भी चित्त में स्मरण हो तो वह स्मरण करनेहारे को अपनी योग्यता प्राप्त करा देता है। बहुत क्या कहें, उसकी स्तुति करना लाभदायक है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥10॥

जिसे ऐसे अद्वैत रूपी दिन का उदय हुआ है कि जो पुनः कभी अस्त नहीं होता, और जो निरंतर अपने-आपमें निमग्न रहता है, हे पार्थ ! जो इस प्रकार विवेकी है वही अद्वितीय है, क्योंकि तीनों लोकों में वही है जो परिवार-रहित है। श्रीकृष्ण ने, जहां तक उनसे हो सका वहां तक, सिद्धों के

इस प्रकार असाधारण लक्षण वर्णन किए और कहा कि जो सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ है, जो देखने वालों की दृष्टि का प्रकाशक है, जिस प्रभु के संकल्प से विश्व की रचना होती है, ओंकाररूपी हाट में जो शब्द ब्रह्मरूपी वस्त्र मिलता है वह भी जिसकी कीर्ति के सामने अल्प होता हुआ उसका आच्छादन करने के लिए बस नहीं होता, जिसके शरीर के तेज से सूर्य और चंद्र के व्यापार की महिमा है, (तो फिर उसके बिना इस जगत् के प्रकाशित होने की वार्ता ही क्या है ?) अजी जिसके केवल नाम के सामने गगन भी अल्प दिखाई देता है, उसका एक-एक गुण तुम कहां तक जान सकोगे ? अतएव यह स्तुति रहने दो। हम नहीं कह सकते कि इस स्तुति के मिस से हमने किसके लक्षणों का वर्णन किया अथवा यह वर्णन ही क्यों किया। सुनो, द्वैत का जो निशान मिटा देती है वह ब्रह्मविद्या यदि व्यक्त कर दी जाए तो हे अर्जुन ! प्रेम का माधुर्य चला जाएगा। इसीलिए हमने वैसा वर्णन नहीं किया। हमने प्रेम का भोग लेने के लिए एक पतले से परदे की आड़ रखकर मन को अलग-सा कर दिया। जो सोहंभाव में अटके हुए हैं, जो मोक्ष-सुख के लिए दीन हो रहे हैं उनकी दृष्टि का कलंक अपने जैसे भक्त के प्रेम को न लगने दो। कदाचित भक्त का अहंभाव चला जाए और वह मद्रूप हो जाए तो फिर मैं अकेला क्या करूंगा ? फिर ऐसा कौन करेगा कि जिसे देखकर हमारी दृष्टि जुड़ावे, अथवा जिससे हम मनमाना वार्तालाप कर सकें, अथवा जिसे दृढ़ आलिंगन दे सकें ? यदि हमारा ऐक्य हो जाए तो अपने हृदय की उत्तम और मन में न समाने वाली बातें हम किनसे कहेंगे ? इस प्रकार प्रेम की दीनता के वश हो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश करने के बहाने अपने ही मन से मन को आलिंगन देने की चेष्टा की। यह बात सुनने में औघट जान पड़ती है, परंतु पार्थ को स्पष्ट श्रीकृष्ण सुख की ढली हुई मूर्ति ही समझो। और तो क्या, जैसे बांझ स्त्री को वृद्धापकाल में एक ही पुत्र होता है और फिर उसमें जैसी मोह की प्रपंचा रचना प्रकट होने लगती है, वैसा ही हाल श्रीकृष्ण का हुआ। यह बात मैं न कहता यदि मैं उनके प्रेम की अधिकता न देखता। देखो प्रेम कैसी आश्चर्यकारक वस्तु है ! कहां उपदेश और कहां युद्ध, परंतु बीच में प्रेमियों का प्रेम ही प्रकट हो रहा है। प्रेम और लजावे नहीं, व्यसन और थकावे नहीं, भ्रम और भुलावे नहीं, तो फिर बात ही क्या रही ? भावार्थ यह है कि अर्जुन मैत्री का आश्रय स्थान है, अथवा मानो सुख-शृंगार किए हुए मन का दर्पण है। इस प्रकार वह अत्यंत पुण्य और पवित्र है, तथा संसार में भक्तिरूपी बीज बोने के लिए मानो एक उत्तम खेत है। इसीलिए वह श्रीकृष्ण की कृपा का पात्र हुआ है। अथवा आत्म

निवेदन के पूर्व जो सख्य नामक एक भूमिका है अर्जुन उसकी आश्रयभूत देवी है। वह श्रीकृष्ण को इस प्रकार प्यारा है कि उसके पास खड़े हुए स्वयं श्रीकृष्ण की स्तुति चाहे न की जाए पर सेवक की स्तुति अवश्य करनी चाहिए। देखो, जो प्रेम से पति की सेवा करती है और पति जिसका आदर करता है वह पतिव्रता, पति की अपेक्षा, क्या अधिक नहीं बखानी जाती ? वैसे ही मेरे हृदय में अर्जुन की विशेष स्तुति करना ही भाता है। क्योंकि वही एक त्रिभुवन के भाग्य का अधिष्ठान हो रहा है। उसके प्रेम के वश से निराकार परमात्मा ने भी साकारता स्वीकारी है और स्वंय पूर्ण होते भी उसे उसकी उत्कंठा लग रही है। तब श्रोताओं ने कहा—"अहो भाग्य है ! कैसी सुंदर वाणी है ! मानो नाद-ब्रह्म को तथा सौंदर्य को जीतकर आई हो ! अजी आश्चर्य नहीं, भाषा हो तो ऐसी ही हो। मानो आकाश में अलंकाररूपी नाना प्रकार के रंग उठ रहे हैं। कैसी स्वच्छ ज्ञानरूपी चांदनी चमकी है और भावार्थरूपी शीतलता छा रही है, तथा श्लोकार्थरूपी कमलिनी सहज विकसित हो रही है ! इससे मनोरथों की ऐसी बाढ़ हुई है कि निष्काम लोगों को भी कामना उत्पन्न होगी।" इस प्रकार श्रोतागण अंतःकरण में आनंदित हो डोलने लगे। यह देखकर निवृत्तिदास ज्ञानेश्वर ने कहा—"ध्यान दीजिए। पाण्डवकुल में कृष्णरूपी एक अनोखे सूर्य का प्रकाश हो रहा है। उसे देवकी ने गर्भ में धारण किया, यशोदा ने कष्ट कर पालन किया, परंतु निदान में वह पांडवों का उपयोगी हुआ। इसलिए कई दिनों तक सेवा करने का और फिर अवसर से विनती करने का कष्ट उस भाग्यवान अर्जुन को नहीं पड़ा। परंतु यह बात रहने दो। अब शीघ्र कथा-निरूपण करता हूं।" अर्जुन ने प्रेम से कहा कि हे देव ! आपके वर्णन किए हुए संतों के लक्षण मुझमें नहीं हैं। यों तो इन लक्षणों के तात्पर्य के माप से मैं निश्चय से अल्प हूं, तथापि सुनिए, मैं आपके वचनों से श्रेष्ठता पा सकता हूं। यदि आप मन में लावें तो मैं ब्रह्म हो सकता हूं। कुछ भी हो, आप जो कहें सो अभ्यास कर सकता हूं। आपने न जाने किसका वर्णन किया, परंतु उसे सुनकर मेरे अंतःकरण में उसकी श्लाघा उत्पन्न होती है, तो फिर वैसी योग्यता प्राप्त होने से कितना आनंद होगा ? क्या मैं ऐसा बन सकूंगा ? हे गोस्वामी ! क्या आप अपनी ओर से इतनी कृपा करेंगे ? तब श्रीकृष्ण ने हंसकर कहा—"हां, हां करेंगे।" देखो, जब तक एक संतोष प्राप्त नहीं होता तभी तक सुखप्राप्ति के विषय में बहुतेरी कठिनता मालूम होती है। परंतु संतोष प्राप्त होते ही क्या कभी सुख की न्यूनता रहती है ? वैसे ही अर्जुन सर्वेश्वर जैसे समर्थ धनी का सेवक था इसलिए वह सहज ही ब्रह्म हो गया। वह कैसा भाग्यरूपी पकी हुई

फसल के बोझ से झुक रहा है। जिसकी भेंट इंद्रादि देवताओं को भी सहस्रावधि जन्मों में होना दुर्लभ है। वह इस अर्जुन के इतना अधीन हो गया है कि उसका एक शब्द भी विफल नहीं होने देता ! अर्जुन ने जो ब्रह्म होने की इच्छा प्रकट की वह श्रीकृष्ण ने सुन ली। उन्होंने सोचा कि उसे ब्रह्मत्व के दोहद हो रहे हैं जिससे यह जाना जाता है कि इसकी बुद्धि के पेट में वैराग्य का गर्भ है। यों तो, इसके दिन पूरे नहीं हुए हैं, तथापि यह अर्जुन-वृक्ष वैराग्य-वसंत की बहार के कारण सोहम् भावरूपी बौर से झुक रहा है; एवं श्रीकृष्ण को यह निश्चय हुआ कि अर्जुन ऐसा विरक्त हो गया है कि उसे मोक्ष-प्राप्तिरूपी फल पाने में विलंब न लगेगा। वे जान गए कि जो-जो तत्व यह ग्रहण करेगा सो आरंभ करते ही इसे फलद्रूप होगा। इसलिए इसे जो अभ्यास बताया जाए वह वृथा न जाएगा। यह समझकर उस समय श्रीहरि ने अर्जुन से कहा कि अब हम तुम्हें सब योगों में श्रेष्ठ योग बताते हैं, सो सुनो। उस मार्ग में संसाररूपी वृक्ष के नीचे करोड़ों मोक्ष-फल बिछे हैं। उस मार्ग से श्रीशंकर अभी तक यात्रा कर रहे हैं। प्रथम योगीजन चिदाकाश में आड़े-टेढ़े मार्ग से ही गए थे। परंतु वहां उनके अनुभवरूपी पांव के चिह्न बन जाने से एक रास्ता बन गया। इसलिए उनके अनुगामी और सब अज्ञानरूपी मार्गों को छोड़कर, इसी आत्मज्ञानरूपी सीधे मार्ग से दौड़ते चले। इसी मार्ग से साधक सिद्ध हो गए तथा तत्वज्ञानी श्रेष्ठ हो गए। यह मार्ग देखो तो भूख-प्यास भूल जाती है तथा रात और दिन नहीं जान पड़ते। चलते समय जहां पांव पड़ जाए वहीं मोक्ष की खानि प्रकट हुई दिखाई देती है, तथा टेढ़े-मेढ़े जाने से भी स्वर्गसुख प्राप्त होता है। पूर्व दिशा की ओर मुंह करके निकलिए तो शांतता से पश्चिम के घर पहुंच जाते हैं। हे धनुर्धर ! इस मार्ग का चलना ऐसा ही है। इस मार्ग से जिस गांव को जाइए वह गांव आप ही बन जाते हैं। यह मैं क्या वर्णन करूं, तुम्हें सहज ही मालूम हो जाएगा। तब पार्थ ने पूछा कि हे देव ! तो फिर कब मालूम हो जाएगा ? इस उत्कंठारूपी समुद्र में डूबे हुए मुझको आप बाहर क्यों नहीं निकालते ? तब श्रीकृष्ण ने कहा, ऐसे अधीर वचन क्यों बोलते हो ? हम स्वयं कहने वाले ही थे कि इतने में तुमने प्रश्न किया।

योगी के लिए उपयुक्त स्थान

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥11॥

तो अब हम विशेष रीति से निरूपण करते हैं। परंतु उसका उपयोग अनुभव से ही होगा। प्रथम ऐसा एक स्थान ढूंढ़ना चाहिए कि जहां समाधान की इच्छा से बैठते ही उठने की इच्छा न हो, जिसे देखते ही वैराग्य की दुगुनी बाढ़ हो; जिसे संतों ने बसाया हो, जो संतोष का सहकारी हो और मन को धैर्य का प्रोत्साहन देता हो; जहां रमणीयता निरंतर ऐसी बढ़ी हुई हो कि अभ्यास ही स्वयं साधक के वश हो जाए तथा अनुभव आप ही आप हृदय में आ बसे; जिसके समीप से निकलते ही हे पार्थ ! नास्तिकों को भी श्रद्धा उत्पन्न होकर तपश्चर्या की इच्छा हो; जहां यदि कोई सकाम भी मार्ग चलते-चलते अकस्मात पहुंच जाए तो उसे फिर लौटने का स्मरण न हो। इस प्रकार, ऐसा स्थान ढूंढ़ना चाहिए कि जो न रहनेहारे को रख ले, भ्रमण करनेहारे को बैठा दे तथा वैराग्य को थपट कर जाग्रत करे; जिसे देखते ही शृंगारियों को ऐसा मालूम हो कि बड़ा राज भी त्याग दें और वहीं शांतता से बैठे रहें; जो उत्तम तथा निर्मल हो, एवं जहां ब्रह्मस्वरूप आंखों से प्रकट दिखाई देता हो। एक बात और देखनी चाहिए। वह स्थान साधकों से बसा हो, परंतु और लोगों के पांवों की धूलि से मलिन न हुआ हो। वहां अमृत के समान जड़ से मीठे और सदा फलनेहारे वृक्ष सघन हों। डग-डग पर पानी हो, जो वर्षाकाल को छोड़ सदा निर्मल रहे। निर्झर भी बहुत सुभीते के हों। घाम थोड़ा ही तपता हो तथा शीतल पवन अत्यंत निश्चल और मंद-मंद बहती हो। प्रायः कहीं शब्द न होता हो, और वन ऐसा सघन हो कि श्वापदों का प्रवेश न हो सके। तोते या भ्रमर भी वहां न हों। पानी के समीप रहनेहारे हंस हों, दो-चार सारस हों, किसी समय कोयल भी आ बैठे, निरंतर नहीं तथापि कुछ मोर भी आते-जाते रहें तो हम ना नहीं कहते। परंतु ऐसा स्थान अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए। वहां कोई गुप्त मठ हो अथवा शिवालय हो। इन दोनों में से कोई एक—जिससे चित्त प्रसन्न हो—होना चाहिए और वहां प्रायः एकांत में बैठना चाहिए। मतलब यह है कि ऐसा स्थान ढूंढ़ना चाहिए और यह परीक्षा करनी चाहिए कि वहां मन स्थिर होता है या नहीं। यदि होता हो तो वहां इस प्रकार आसन लगाना चाहिए कि ऊपर सुंदर मृगचर्म हो, बीच में धुले हुए वस्त्र की तह हो और नीचे अग्र-सहित अत्यंत कोमल कुश ऐसी व्यवस्थित रीति से बिछाए गए हों कि वे सहज ही समान मिले हुए और एक से रह सकें। कदाचित आसन ऊंचा हो जाए तो शरीर हिल जाएगा और नीचा हो जाए तो भूमि के संबंध का दोष प्राप्त होगा। इसलिए ऐसा न होना चाहिए। आसन को समान रखना चाहिए। बहुत क्या कहें, आसन उपर्युक्त वर्णन के अनुसार होना चाहिए।

सद्गुरु का ध्यान एवं आसन

तत्रैकाग्रंम मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥12॥

फिर योगी को वहां एकाग्र अंतःकरण कर सद्गुरु का स्मरणरूपी अनुभव लेना चाहिए। प्रेम से स्मरण करते ही सबाह्य अंतःकरण सात्विक भावों से भर जाए, अहंभावरूपी जड़ता चली जाए, विषयों की विस्मृति हो जाए, हृदय में मनरूपी वस्त्र की तह बन जाए, ऐसी एकता जब तक सहज ही प्राप्त न हो जाए तब तक स्मरण करते रहना चाहिए। इस प्रकार के अनुभव सहित आसन पर बैठना चाहिए। उस समय ऐसी प्रतीति होने लगती है कि शरीर ही शरीर को संभालता है, तथा प्राण ही प्राण को संभालता है, प्रवृत्ति पीछे फिरती है। समाधि इस पार ही रह जाती है। आसन पर बैठते ही सब अभ्यास सुकर हो जाते हैं। आसन की ऐसी महिमा है। अब हम आसन की विधि का वर्णन करते हैं, सुनो। जंघा को पिंडुली से मिला दो। पांव के तलुए एक पर एक ड्योढ़ा कर गुद स्थान के मूल में स्थिर रख जोर से दबाओ। दहना पांव नीचे रखो और वृषण से गुद स्थान तक जो रेखा है उसे उससे दबाओ। इस कृति में बायां पांव आप ही ऊपर रहेगा। गुदा और शिश्न के बीच जो केवल चार अंगुल जगह है उसमें से दोनों ओर डेढ़-डेढ़ अंगुल छोड़कर बीच में जो एक अंगुल जगह रह जाती है वहां एड़ी के उत्तर भाग से दबाओ और शरीर तौल धरो। पीठ के नीचे का भाग इस प्रकार उठाओ कि उठाया न उठाया मालूम न हो तथा दोनों घुटनों का भी तौल संभालो, तब हे पार्थ ! संपूर्ण शरीर का ढांचा एड़ी के माथे पर स्थिर हो रहेगा। पीछे मोटा कंबल लपेटकर या तकिया रख सकते हैं। जिससे आप आसानी से घंटों बैठ सकें। हे अर्जुन ! यह मूलबंध का लक्षण है। इसे गौण वज्रासन कहते हैं। इस प्रकार जब मूलाधार का बंध सिद्ध होता है और अपान वायु का अधोमार्ग बंद हो जाता है तब वह वायु भीतर की ओर संकुचित होने लगती है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥13॥

हाथ द्रोणाकार किए हुए सहज ही बाएं पांव पर रहते हैं और बाहुमूल फूले हुए दिखाई देते हैं। बीच में शरीरदंड स्थिर रहने के कारण शिरकमल भीतर घुसा हुआ मालूम होता है तथा नेत्रद्वार के किवाडरूपी पलक बंद होते





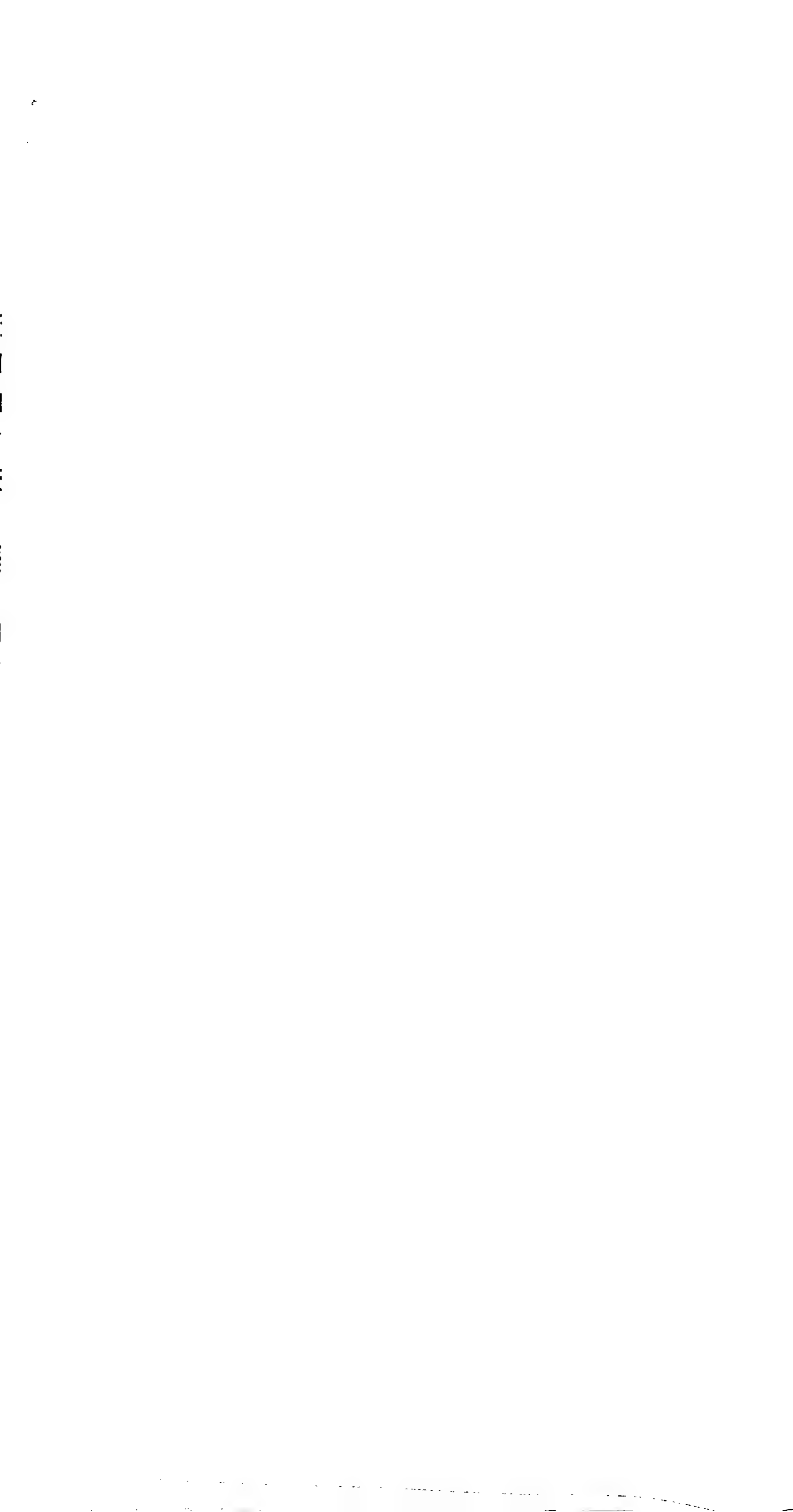
★ स्वामी कृष्णानन्द जी ★











से दिखते हैं। ऊपर की बिन्नियां नहीं हिलतीं तथा नीचे की नीचे स्थिर बनी रहती हैं जिससे नेत्रों की अर्धोन्मीलित स्थिति हो जाती है। दृष्टि भीतर की ओर रहते हुए कुतूहल से बाहर पग डालती है, और नासाग्र तक आई हुई दिखाई देती है; तथा भीतर की दृष्टि भीतर ही रहकर बाहर नहीं निकलती, इसलिए उस अर्द्धदृष्टि का निवास नासाग्र पर स्थिर ही रहता है। तब दिशाओं की भेंट लेना अथवा रूप देखने की बाट जोहना इत्यादि इच्छाएं आप ही आप बंद हो जाती हैं। कंठ सूखने लगता है। ठोढ़ी कंठ के नीचे के गड्ढे में जम जाती है और हृदय को जोर से दबाती है, और बीच में कंठमणि अदृश्य हो जाती है। इस प्रकार जो बंध बनता है, उसे जलंधर कहते हैं। नाभि ऊपर उठ जाती है, पेट भीतर घुस जाता है, हृदय में हृदय कमल विकसता है। इस प्रकार नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर जो बंध बनता है उसे उड्डियान कहते हैं। शरीर के बाहरी अंग से जब इस प्रकार अभ्यास किया जाता है।

कुण्डलिनी जागरण

प्रशांन्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचात्रिते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः॥14॥

तब भीतर मनोधर्म का ठांव मिट जाता है, कल्पना बंद हो जाती है, प्रवृत्ति शांत हो जाती है, और शरीर, भाव तथा मन सहज ही विराम पाते हैं। क्षुधा क्या हुई, निद्रा कहां गई इत्यादि का विस्मरण हो जाता है और पुनः शीघ्र स्मरण नहीं होता। जो अपान वायु मूलबंध के द्वारा बंद कर दी जाती है वह पीछे पलटती है और संकुचित होते ही तत्काल फूलती है, संताप से मत्त हो जाती है, मनमानी जगह गरजती है, और ठहर-ठहर कर मणिपुर (नाभिकमल के तृतीय चक्र) से झगड़ने लगती है। अनंतर यह तूफान शांत होते ही वह सब पेट खोज डालती है और छुटपन का सड़ा हुआ कीच बाहर निकाल फेंकती है। वह केवल भीतर ही घिरी हुई नहीं रहती, वरन् कोठे में भी संचार करती है, तथा कफ और पित्त का ठांव नहीं रहने देती। धातु के समुद्रों को उलट देती है। मेदा के पर्वतों को फोड़ डालती है और भीतरी हड्डी से मिली हुई मज्जा को बाहर निकालती है। नाड़ियां छुड़ा देती है। अवयवों को ढीला कर देती है। इस प्रकार वह अपानवायु साधकों को डराती है, परंतु साथ ही उसका नाश करती है। वह जलतत्व और पृथ्वीतत्व एक में सानती है। इतने

में, हे धनुर्धर ! दूसरी ओर आसन की उष्णता कुण्डलिनी नामक शक्ति को जाग्रत करती है। जैसे कोई नागिन का संपोला कुंकुम में नहाया हो और गिण्डी मार कर सो रहा हो, वैसी वह छोटी-सी कुण्डलिनी साढ़े तीन गिण्डी मारकर नीचे मुंह किए हुए सर्पिनी-सी सोई रहती है। विद्युत का बना हुआ ककंण अथवा अग्नि की ज्वालाओं की घरी अथवा घोंटे हुए सोने के पांसे की-सी उत्तम बंधी हुई और कसी हुई जो कुण्डलिनी छोटे से संकुचित स्थान में दबी हुई रहती है सो वज्रासन के दबाव से जाग जाती है। मानो कोई नक्षत्र उलट पड़ा हो, अथवा सूर्य का आसन छूट गया हो, अथवा चहुं ओर तेज के बीज में से अंकुर फूटे हों, वैसी वह शक्ति गिण्डी को छोड़ कौतुक से अंगड़ाई लेती उठी हुई, नाभिस्थान पर दिखाई देती है।

सर्पिणी का भोजन

पहले ही उसे बहुत दिनों की भूख लगी रहती है जिस पर जगाने का मिस हो जाता है। इसलिए वह आवेश से ठीक ऊपर की ओर मुंह फाड़ती है। हे किरीटी ! हृदय-कमल के नीचे जो पवन भरी रहती है वह सबको चपेट लेती है। ऊपर-नीचे मुंह की ज्वाला फैला कर मांस के कौर खाने लगती है। जो-जो स्थल मांसल हैं वहां सहज ही कौर मिल जाते हैं। तदनंतर एक-दो कौर हृदय के भी भर लेती है। फिर तलुवों और हथेलियों का भी भेद करती है। इस प्रकार वह हर एक अवयव की गांठों की खोज लेती है। अधोभाग भी नहीं छोड़ती, वरन नख का भी सत्व निकाल लेती है और त्वचा को धोकर हड्डी के ढांचे से जोड़ देती है। हड्डियों की नलियों का रस निकालती है, नसों के जाले धो डालती है, जिससे रोममूलों की बाह्य-वृद्धि बंद हो जाती है। अनंतर वह प्यासी कुण्डलिनी सप्तधातुओं के समुद्र का घूंट पीती है जिससे शरीर का हर एक भाग अत्यंत शुष्क हो जाता है। नाक के छेदों में से जो हवा बाहर अंगुल तक निकलती है उसे घिंचिया कर पीछे हटा वह फिर भीतर घुसाती है। तब नीचे की वायु ऊपर चढ़ती है और ऊपर की नीचे उतरती है। और जिस समय दोनों का मिलाप होता है तब चक्रों के केवल पुरजे ही बचते हैं। यों तो ये दोनों वायु तभी मिल जाएं, परंतु कुण्डलिनी क्षण भर व्यग्र हो मानो इनसे कहती है कि जाओ तुम्हारा यहां क्या काम है ? इस प्रकार वह शरीर की सब पृथ्वीमय धातु खाकर कुछ नहीं बचने देती। अनंतर जल का भाग भी पोंछ डालती है। इस प्रकार वह दोनों महाभूतों को खा डालती

है तब पूर्ण तृप्त होती है और सुषुम्ना नामक नाड़ी के पास शांत हो रहती है और तृप्ति के संतोष से जो गरल मुंह से उगलती है उस अमृत से प्राणवायु जीवन धारण करती है। भीतर से वह विष अग्निरूप हो निकलता है, परंतु सबाह्य शीतल करने लगता है। तब कहीं पहले गले हुए अवयव दृढ़ होने लगते हैं। जबकि नाड़ियों के मार्ग बंद हो गए हैं, नवों प्रकार की वायु का चलना बंद हो गया है, इसलिए शरीर के धर्म नहीं रहे हैं, इड़ा और पिंगला नाड़ियां एक में मिल गई हैं, तीनों गांठें छूट गई हैं और चक्रों की छहों कलियां खिल गई हैं, चंद्र और सूर्य नामक जो कल्पित वायु हैं वे दीपक से भी खोजते नहीं मिलतीं, बुद्धि का विकास बंद हो गया है और घ्राणेंद्रिय में जो सुगंधि रहती है वह भी कुण्डलिनी के संग सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो गई है, उस अवस्था में ऊपर की ओर से चंद्रामृत का सरोवर धीरे से कनिया कर कुण्डलिनी के मुंह में गिरता है। उससे नली में जो रस भर जाता है वह सब शरीर में फैलता है और प्राणवायु के योग से जहां का तहां सूख जाता है।

शरीर कांति युक्त

तपाए हुए मोम के सांचे का मोम निकल जाने पर जैसे वह उसमें डाले हुए रस का ही बना हुआ रह जाता है, वैसे ही उस शरीर के रूप से मानो कांति ही अवतार लेती है और ऊपर से त्वचारूपी ओढ़नी ओढ़ लेती है। जैसे सूर्य मेघरूपी घूंघट काढ़े रहता है और फिर मेघ निकल जाने पर तेजस्वी दिखाई देता है, वैसे ही ऊपर से जो शरीर का त्वचारूपी सूखा पपड़ा रहता है वह भुस की तरह झड़ जाता है। तब अवयवकांति की शोभा ऐसी दिखाई देती है कि मानो वह स्फटिक का ही हो; अथवा रत्नरूपी बीज में अंकुर निकले हों, अथवा संध्याकाल के आकाश के रंग निकलकर उन्हीं का वह शरीर बनाया गया हो; अथवा आत्मज्योति का लिंग ही स्वच्छ किया रखा हो; अथवा वह शरीर कुंकुम से भरा हुआ हो, आत्मरस से ढला हुआ हो, अथवा मैं समझता हूं कि वह मूर्तिमान शांति का ही स्वरूप हो; अथवा वह आनंदरूपी चित्र की लिखावट हो, महासुख की प्रतिमा हो व संतोषरूपी वृक्ष का रोपा स्थिर किया गया हो अथवा वह सुवर्ण-चंपक की कली हो, या अमृत की मूर्ति हो, या कोमलता के बरेजे में बहार आई हो, अथवा शरद ऋतु की आर्द्रता से चंद्रबिंब पल्लवित हुआ हो या मूर्तिमान तेज ही स्वयं आसन पर बैठा हुआ हो। कुण्डलिनी जब चंद्रामृत पीती है तब ऐसा शरीर हो जाता है। कृतांत भी

उस देहाकृति से भय खाता है। वार्धक्य पीछे हटता है। यौवन की गांठ खुल जाती है, और लुप्त हुई बालदशा फिर प्रकट होती है। उसकी आयु ही छोटी दिखाई देती है। वास्तव में उसके धैर्य की निरुपम महिमा बढ़ जाती है। बाल शब्द का अर्थ बालक नहीं, बल करना चाहिए। उस शरीर में ऐसे नए और उत्तम नख निकलते हैं मानो सुवर्णवृक्ष के पल्लवों में नित्य नूतन रत्नों की कलियां निकली हों। दांत भी नए हो जाते हैं, परंतु बहुत छोटे-छोटे होते हैं, मानो दुतरफा हीरों की पंक्तियां बैठी हों। मणिक के कण जैसे सहज ही नोकदार होते हैं वैसे ही सब शरीर पर रोमों की नोकें उगती हैं। हथेलियां और तलुवे रक्तकमल के समान हो जाते हैं और नेत्र, क्या वर्णन करूं, अत्यंत स्वच्छ हो जाते हैं। पक्वदशा के कारण मोती के सीप में न समाने से जैसे सीप के ढकनों के सियन खुल जाती है, वैसे ही उसकी दृष्टि पलकों में नहीं समाती और निकलकर व्यापक होना चाहती है। वह अर्द्धोन्मीलित रहती है, परंतु आकाश तक व्याप्त रहती है। शरीर सुवर्ण का हो जाता है, परंतु वह वायु का लघुत्व रखता है, क्योंकि उसमें पृथ्वी और जल के अंश नहीं रहते। उसे समुद्र का परतीर दिखाई देता है, स्वर्ग का मंद शब्द सुन पड़ता है, और चींटी के भी मन का हाल मालूम हो जाता है। वह पवन के घोड़े पर सवार हो सकता है, जल पर चले तो उसके तलुवे नहीं भीगते। प्रसंगानुसार उसे ऐसी ही अनेक सिद्धियां प्राप्त होती हैं। सुनो, प्राण का हाथ पकड़, हृदयाकाश की सीढ़ी बनाकर सुषुम्ना नाड़ी के जीने से हृदय में पहुंची हुई।

ओंकार ध्वनि

वह जगदंबा कुण्डलिनी जो चैतन्यरूपी चक्रवर्ती की शोभा है, जिसने जगद्बीज ओंकार के अंकुररूप जीव पर छाया की है, जो निराकार ब्रह्म का साकार शरीर है, जो परमात्मा का संपुट है, जो ओंकार की केवल जन्मभूमि है, और क्या वर्णन करें, वह कुण्डलिनी बाला जब हृदय में प्रवेश करती है तब वह अनाहत ध्वनि करने लगती है। कुण्डलिनी के साथ ही बुद्धि की चेतना उपस्थित रहती है। इससे उस बुद्धि को वह ध्वनि धीरे से सुनाई देती है। वह ध्वनि ऐसी रहती है मानो घोषाकार कुण्ड में ध्वनि के चिह्न के आकार तथा ओंकार के रूप लिखे हुए हों। यह बात कल्पना से जानी जा सकती है। परंतु उस समय कल्पना करनेहारा भी कहां रहता है ? अतएव वहां काहे की ध्वनि हो रही है यह जान नहीं पड़ता। हे अर्जुन ! मैं एक बात भूल गया।

जब तक पवनतत्व का नाश नहीं होता तब तक आकाश में वाचा होती है, इसलिए वह गरजता है। जब उस अनाहतरूपी मेघ के कारण आकाश गरजने लगता है तब सहज ही ब्रह्मरंध्र की खिड़की खुल जाती है। सुनो, जो कमलगर्भ के आकार के समान है, जो दूसरा महदाकाश ही है, जहां चैतन्य अवर निवास करता है, उस हृदयरूपी भुवन में यह कुण्डलिनी परमेश्वरी मानो तेजोरूपी कलेवा अर्पण कर देती है। बुद्धिरूपी शाक का इस प्रकार उत्तम नैवेद्य करती है कि द्वैत न दिखाई दे। कुण्डलिनी अपना तेज छोड़ देती है और केवल प्राणरूप हो रहती है। उस समय कैसी दिखाई देती है, मानो किसी पवन की पुतली ने अपनी ओढ़ी हुई सोने की साड़ी उतार कर अलग रख दी हो; अथवा किसी दीपक की दृष्टि वायु से भिड़कर लुप्त हो गई हो; अथवा विद्युत चमक कर आकाश में विलीन हो गई हो। इस प्रकार हृदय-कमल में कुण्डलिनी ऐसी दिखाई देती है मानो सोने की शलाका हो; अथवा जैसे प्रकाशरूपी जल का झरना बहता हुआ आए और हृदय-भूमि के दर्रे में एकदम समा जाए, वैसे ही उस शक्ति का रूप शक्ति में ही लुप्त हो जाता है; तथापि उसे शक्ति ही कहना चाहिए। अन्यथा उसे केवल प्राण ही समझो। उस समय नाद, बिंदु, कला, ज्योति ये नहीं रहते। अथवा मन का वश करना या पवन का आश्रय करना या ध्यान का अभ्यास करना इत्यादि बातें नहीं रहतीं। यह भी नहीं रहता कि कोई कल्पना की जाए या कोई छोड़ दी जाए। इसे महाभूतों का स्पष्ट निर्मल रूप ही जानो। पिंड से पिंड का ग्रास जो नाथ संप्रदाय का मर्म है, वही अभिप्राय श्री महाविष्णु ने वर्णन किया। उसी ध्वनि की मानो गठरी छोड़कर श्रोताओं को ग्राहक जान मैंने यथार्थरूपी वस्त्र की तह झटकार कर दिखाया है।

सिद्ध योगी

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शांति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥15॥

सुनिए, जब शक्ति के तेज का लोप हो जाता है तब देह का रूप भी मिट जाता है और योगी (इतना सूक्ष्म हो जाता है कि) आंख में छिप सकता है। यों तो वह पहले के समान ही अवयव संपन्न रहता है, परंतु ऐसा दिखाई देता है मानो वायु का ही बना हुआ हो; अथवा कोई केले के वृक्ष का गाभा अपने आच्छादन का त्याग किए हुए खड़ा हो; अथवा आकाश को ही कोई

अवयव उत्पन्न हुआ हो। जब उसका शरीर इस प्रकार हो जाता है तब उसे खेचर कहते हैं। यह पद प्राप्त होते ही साधारण शरीरधारी लोगों में उसके चमत्कार दिखाई देते हैं। योगी कहीं से निकल जाए तो उसके पांवों की जो रेखा बन जाती है वहां जगह-जगह अणिमादिक सिद्धियां उपस्थित होती हैं। परंतु उससे हमें क्या कार्य है ? हे धनंजय ! यह जान लो कि देह के देह में पृथ्वी, आप और तेज, तीनों भूतों का इस रीति से लोप हो सकता है—हृदय में पृथ्वीतत्व को जलतत्व गला देता है, जल को तेज सुखा देता है, और तेज को वायुतत्व बुझा देता है। अनंतर केवल वायुतत्व ही रह जाता है, परंतु शरीर का आधार लिए रहता है। फिर कुछ काल के अनंतर वह भी आकाश में जा मिलता है। उस समय उसे कुण्डलिनी नाम के बदले वायु नाम प्राप्त होता है। परंतु जब तक कुण्डलिनी ब्रह्म में नहीं जा मिलती तब तक उसकी शक्ति बनी रहती है। फिर वह जलंधर-बंध छोड़ देती है, सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है, और गगनरूपी पहाड़ी पर जा पहुंचती है। ओंकार की पीठ पर पांव देते हुए शीघ्रता से पश्यंती रूप सीढ़ी चढ़ जाती है। पश्चात, जैसे सागर में सरिता वैसे ही ओंकार की अर्द्धमात्रा तक आकाशतत्व के हृदय में जा मिलती हुई दिखाई देती है। फिर ब्रह्मरंध्र में स्थिर रह कर सोऽहं भावरूपी बांहें फैलाकर दौड़ती हुई परब्रह्म से मिल जाती है। उस समय बीच का महाभूतों का परदा फट कर दोनों का सम्मेलन हो जाता है। उस ब्रह्मानंद में गगन समेत सबकुछ विलीन हो जाता है। समुद्र ही जैसे मेवों के मुख से निकल कर, नदी प्रवाह में बह कर, पुनः आप ही में मिल जाता है वैसे ही हे पांडुकुंवर ! पिंड के मिस से मानो ब्रह्म ही ब्रह्मपद में प्रवेश करता है। ऐसी एकता हो जाती है। उस समय यह विवेचना करने के लिए भी कोई नहीं बचता कि दूसरा कोई था या पहले से एक ही वस्तु बनी हुई है। गगन में गगन का लीन हो जाना जो बात है उसका जिसे अनुभव हो जाए वही पुरुष सिद्ध है। उस अनुभव की वार्ता वाणी के हाथ नहीं आती, जिससे संवादरूपी गांव में प्रवेश किया जाए। हे अर्जुन ! इस अभिप्राय को प्रकट करने का अभिमान करने वाली वाणी भी दूर रह जाती है। भृकुटी की पिछली ओर मकार का भी प्रवेश नहीं होता। अकेले प्राण को भी गगन में जाते संकट होता है और अनंतर वह जब वहीं मिल जाता है तब शब्दरूपी दिन का अस्त हो जाता है और आकाश का नाश हो जाता है। अतएव महदाकाश के देह में जब आकाश का भी ठिकाना नहीं लगता तब शब्द की कहां थाह लगे ? तात्पर्य यह कि यह वस्तु निश्चय से ऐसी स्पष्ट नहीं कि शब्दों से वरणी जाए

अथवा कानों से सुनी जाए। जब दैवयोग से कुछ अनुभव प्राप्त हो तब तुम आप ही यह वस्तु बन रहोगे। पश्चात ज्ञातव्य कुछ न रहेगा। अतएव रहने दो। हे धनुर्धर ! वही बात वृथा कहां तक कहें ? इस प्रकार जब शब्दमात्र पीछे हटता है तब सकंल्प की आयु समाप्त हो जाती है और वहां विचार की हवा का भी प्रवेश नहीं होता। जो उन्मनी अवस्था की शोभा है, तुर्य्या का तारुण्य है, अनादि और अननुमेय परमतत्व है, जो विश्व का मूल है, योगवृक्ष का फल है, जो आनंद का केवल जीवन है, जो आकार की सीमा है, मोक्ष का एकांत है, जिसमें आदि और अंत लीन हो गए हैं, जो महाभूतों का बीज है, महातेज का तेज है, एवं हे पार्थ ! जो मेरा निज स्वरूप है, वही यह चतुर्भुज आकार बना हुआ है, जिसकी शोभा मेरे भक्त-समुदायों के प्रति नास्तिकों का किया हुआ छल देखकर आविर्भूत होती है। वह महासुख अनिर्वाच्य है, परंतु प्राप्ति तक जिन पुरुषों के प्रयत्नों की सीमा है वे स्वयं सुखरूप हो रहते हैं। हमारे बताए हुए इस साधन को जो शरीर से करते हैं वे निर्मल हो हमारी ही योग्यता के हो जाते हैं, और शरीर से ऐसे दिखाई देते हैं मानो परब्रह्मरूपी रस से देहाकृतिरूप सांचे में ढाले गए हों। यदि यह अनुभव हृदय में प्रकाशित हो तो संपूर्ण विश्व का लय हो जाएगा। तब अर्जुन ने कहा—सत्य है, हे देव ! आपने अभी जो उपाय बताया, वह ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग है, उसी से प्राप्ति होती है; इस अभ्यास में जो दृढ़ होते हैं वे निश्चय से ब्रह्मपद को पहुंचते हैं, इत्यादि जो आपने कहा सो मैं समझ गया। हे देव ! यह वर्णन सुनने से ही चित्त में ज्ञान उपजता है।

।। ओ३म् शांति, ओ३म् शांति, ओ३म् शांति ।।

"हरि ॐ तत्सत्"



स्वामी श्री की अन्य रचनाएं

- ☆ क्रान्ति महाविश्व
- ☆ चरम निर्देश
- ☆ कुण्डलिनी जागरण *(क्रान्ति महाजीवन)*
- ☆ यंत्र-मंत्र रहस्य
- ☆ स्वर से समाधि
- ☆ कहै कबीर कुछ उद्यम कीजै
- ☆ नानक भगता सदा विगासु
- ☆ बुद्धों का पथ
- ☆ शिव तंत्र
- ☆ कबीर गुरु बसै बनारसि *(रामायण पर आधारित)*
- ☆ दिव्य गुप्त विज्ञान पर चार पुस्तकें (जो साधना से गुजरता है, उन्हें ही ये पुस्तकें प्रदान की जाती हैं।)
- ☆ रहस्यमय लोक

डाक द्वारा पुस्तकें मंगवाने का पता :

साधना पब्लिकेशन्स

K-4/4, माडल टाउन-II, दिल्ली-110009

दूरभाष : 55496808, 9818300870





कुण्डलिनी जागरण

कुण्डलिनी जागरण एक शक्ति है, ऊर्जा है। जो अनंत जन्मों के संस्कारों से दबी, सोई हुई है। यह वह शक्ति है जो शरीर और आत्मा के मिलन बिंदु पर है। ब्रह्माण्ड में जितनी शक्तियां हैं, परमात्मा ने उन समस्त शक्तियों को इस शरीर पिण्ड में बीज रूप में छिपा दिया है। यह कुण्डलिनी मेरुदण्ड के भीतर स्थित सुषुम्ना नाड़ी का मुख त्रिकोण यानि योनि मण्डल के मध्य स्थान पर स्थित है। यह अति सूक्ष्म विद्युत ऊर्जा से परिपूर्ण, दिव्य शक्ति से पूर्ण साढ़े तीन लपेटे खाये हुए, अपनी पूंछ को अपने ही मुंह में दबाये हुए अनंत काल से सोई है।

यह भयंकर सर्प है। इससे खिलवाड़ न करें। विद्युत की तकनीक जान लेने पर उसे विभिन्न रूप से प्रयोग में लाते हैं। उसी तरह इसे जागृत करने की विधि जान लें। फिर इस पृथ्वी पर कुछ भी आपके लिए असम्भव नहीं है। आपकी इच्छा मात्र से सृष्टि का संचालन होने लगता है। कुण्डलिनी के छः चक्रों को पार कर मानव चेतना अपनी उच्चतम अवस्था पर पहुंच जाती है। तभी पीड़ाओं का अतिक्रमण एवं सत्य का बोध होगा। इस विराट मानव सभ्यता के चरम विकास को, सत्य को, बुद्धत्व को कुछ ही लोग उपलब्ध हुए हैं। मनुष्य होने का यही गौरव है कि हम बीज से वृक्ष बन जाएं। गुरुदेव ने इस पुस्तक में आंखों देखे दृश्य का वर्णन किया है, विधि दी है जिससे आप अवश्य सफल हो सकते हैं। जरूरत है, आपमें श्रद्धा की। फिर फूल खिलेगा, ध्यान का। फल लगेगा, समाधि का, आनन्द का, उत्सव का। आप अहोभाव से भर जायेंगे।



साधना पब्लिकेशन्स